(१३) पाणिनि-दर्शनम्

स्फोटात्मकं प्रणववैकृतिरूपमेत—
तत्त्वं समादिशति यच्च जगद्विवर्तम् ।
शब्दार्थबन्धमखिलं किल यद्विधत्ते
वन्दे तदेव पथि पाणिनिशब्दशास्त्रम् ॥—ऋषिः

(१. प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन)

नन्वयं प्रकृतिभागोऽयं प्रत्ययभाग इति प्रकृतिप्रत्ययविभागः कथमवगम्यत इति चेत्—पीतपातञ्जलजलानामेतच्चोद्यं चमत्कारं न करोति । व्याकरणशास्त्रस्य प्रकृतिप्रत्ययविभागप्रतिपादनपरतायाः प्रसिद्धत्वात् ।

'इतना खंड प्रकृति है और इतना खंड प्रत्यय'—इस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय का विभाग कैसे जाना जाय ? [हम उत्तर देंगे कि] जिन लोगों ने पतंजलि के [महाभाष्यरूपी] जल का पान कर लिया है उन्हें यह प्रश्न आश्चर्य में नहीं डालता । यह प्रसिद्ध है कि व्याकरणशास्त्र प्रकृति और प्रत्यय के विभाग का ही वर्णन करता है ।

विशेष—किसी शब्द का खण्ड दो भागों में किया जाता है—प्रकृति और प्रत्यय । व्याकरण का आरम्भ प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के लिए ही हुआ था जैसा कि आदि वैयाकरण इन्द्र के विषय में कथा है (तै० सं० ६।४।७।३) । पहले वाणी अव्याकृत अर्थात् समुद्रादि की अव्यक्त ध्वनियों की तरह एकात्मक थी । प्रकृति-प्रत्यय, पद-वाक्य आदि के विभाग उसमें नहीं थे । इन्द्र ने देवताओं की प्रार्थना पर इस वाणी को व्याकृति-युक्त किया, टुकड़ों में बाँट दिया । इस तरह 'व्याकरण' शब्द से ही शब्द-व्युत्पादन या प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का अर्थ समझा जाता है । (व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते = प्रकृतिप्रत्ययादिविभागाः कल्प्यन्तेऽनेनेति व्याकरणम् ।)

जिस खंड के बाद प्रत्यय लगाये जाने का विधान किया जाय उसे प्रकृति-खंड कहते हैं जैसे—'रामः' में राम-शब्द प्रकृति है, विसर्ग (या 'सु'—पाणिनि के अनुसार) प्रत्यय है । 'राम' प्रातिपदिक में भी रम् धातु प्रकृति है, 'अ' प्रत्यय । 'गमन' में गम् प्रकृति 'अन' प्रत्यय । यहाँ 'पीतपातञ्जलजल' में रूपक

रखा गया है। पतंजलि के लिखे हुए महाभाष्य को समुद्र मानकर उसके जल का पान करनेवाले = महाभाष्य का सम्यक् अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों (वैयाकरणों) का संकेत किया गया है।

(२. 'अथ शब्दानुशासनम्' का अर्थ)

तथा हि पतञ्जलेर्भगवतो महाभाष्यकारस्येदमादिमं वाक्यम्—'अथ शब्दानुशासनम्' (पात० म० भा० १।१।१) इति। अस्यार्थः—अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। अधिकारः प्रस्तावः। प्रारम्भ इति यावत्। शब्दानुशासनशब्देन च पाणिनिप्रणीतं व्याकरणशास्त्रं विवक्ष्यते। शब्दानुशासनमित्येतावत्यभिधीयमाने संदेहः स्यात्। किं शब्दानुशासनं प्रस्तूयते न वेति। तथा मा प्रसाङ्क्षीदित्यथशब्दं प्रायुङ्क्त।

महाभाष्य के रचयिता भगवान् पतंजलि का यह पहला वाक्य है—अथ-शब्दानुशासनम् अर्थात् अब (यहाँ से) शब्दों का अनुशासन (Exposition) आरंभ होता है (प० म० भा० १।१।१)।*

इसका अर्थ इस प्रकार है—'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अधिकार का अर्थ है प्रस्तुत करना, या आरंभ करना। 'शब्दानुशासन' शब्द से पाणिनि के द्वारा लिखा हुआ व्याकरणशास्त्र समझा जाता है। यदि केवल 'शब्दानुशासनम्' इतना ही कहते तो संदेह रह ही जाता कि शब्दानुशासन प्रस्तुत किया जा रहा है या नहीं? ऐसा (ऐसे संदेह का) प्रसंग न उठे इसलिए 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

विशेष—अपने प्रथम वाक्य की व्याख्या भाष्यकार स्वयं कर रहे हैं। ऐसा न सोचें कि व्याख्या करने के कारण वह वाक्य किसी दूसरे का लिखा हुआ है। कैयट भी लिखते हैं—स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावद् व्याचष्टे। 'अथ' शब्द का प्रयोग यदि न करें तो केवल 'शब्दानुशासनम्' कहना पड़ेगा। ऐसी दशा में वाक्य की पूर्ति नहीं होती, पूर्ति करने के लिए अन्वय के योग्य क्रिया-पद का अध्याहार करना पड़ेगा। अब कौन सी क्रिया आवे?

---

* भाष्य का लक्षण—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

'प्रस्तूयते' या 'स्तूयते' या क्या ? अथ शब्द का प्रयोग होते ही यह सहल हो जाता है। अथ का अर्थ है प्रारंभ। बस, 'प्रस्तूयते' क्रिया का अध्याहार कर लेंगे। अन्य क्रियाओं का अध्याहार करने से 'अथ' के साथ संगति नहीं बैठती।

अथ शब्दप्रयोगबलेनार्थान्तरव्युदासेन प्रस्तूयत इत्यस्याभिधीयमानत्वात्। अनेन हि वैदिकाः शब्दाः 'शं नो देवीरभिष्टये' (अथर्व सं० १।१, ऋ० सं० १०।९।४) इत्यादयस्तदुपकारिणो लौकिकाः शब्दाः 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिः' इत्यादयश्चानुशिष्यन्ते, व्युत्पाद्य संस्क्रियन्ते प्रकृतिप्रत्ययविभागवत्तया बोध्यन्त इति शब्दानुशासनम्।

'अथ' शब्द का प्रयोग करने से दूसरे अर्थों (जैसे स्तुति करना, वर्णन करना आदि) का निराकरण करके 'प्रस्तुत किया जाता है' ऐसा अर्थ रखते हैं। [यही कारण है कि 'अथ' शब्द आरम्भ में दिया गया है।]

इस प्रकार 'शं नो देवीरभिष्टये' (दिव्य जल हमारा कल्याण करें और इच्छापूर्ति में सहायक हों, अथर्व १।१) इत्यादि वैदिक शब्दों का और [अर्थ-प्रकाशन के माध्यम से उनकी सहायता करने वाले 'गौ, अश्व, पुरुष, शकुनि' आदि लौकिक शब्दों का अनुशासन होता है, व्युत्पत्ति के द्वारा उसका संस्कार होता है, ये प्रकृति और प्रत्यय के रूप में बाँट कर समझे जाते हैं—यही शब्दानुशासन है। [वैदिक शब्दों का अर्थबोध भी लौकिक शब्दों की तरह ही होता है। वहाँ भी पद की शक्ति मानी जाती है—जिस शब्द की शक्ति (सामर्थ्य (Denotation) का ज्ञान लौकिक भाषा में हो गया, उसका ज्ञान वेद में भी हो जायगा। लोक में शब्दशक्ति-बोध कराने के कई उपाय हैं जैसे—वृद्धव्यवहार, व्याकरण, कोश आदि। इन शक्तिग्राहक प्रमाणों के द्वारा कोई व्यक्ति लोक में शब्दशक्ति का बोध कर लेता है तब वेद में भी ऐसा शाब्दबोध हो जाता है। (लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः।) अतः लौकिक शब्दशक्ति की आधारशिला पर वैदिक शब्दशक्ति अवलंबित है। मीमांसक भी वेद में अर्थ मानने के लिए लौकिक वाक्यों की युक्ति देते हैं।]

(२ क. 'शब्दानुशासन' पर विचार-विमर्श)

अत्र केचित्पर्यनुयुञ्जते—अनुशासिक्रियायाः सकर्मकत्वात्कर्मभूतस्य शब्दस्य कर्तृभूतस्याचार्यस्य प्राप्तौ सत्याम् 'उभय-

प्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू० २।३।६६) इत्यनुशासनबलात् कर्मण्येषा षष्ठी विधातव्या। तथा च 'कर्मणि च' (पा० सू० २।२।१४) इति समासप्रतिषेधसंभवाच्छब्दानुशासनशब्दो न प्रमाणपथमवतरतीति।

यहाँ पर कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि अनुशासन-क्रिया सकर्मक है, प्रस्तुत शब्द (शब्दानुशासन) में उसका कर्म 'शब्द' है और कर्ता 'आचार्य' (जो अप्रयुक्त है) है। दोनों शब्दों में ['कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) के अनुसार] षष्ठी होने की संभावना हो जाने पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू० २।३।६६) के अनुसार यहाँ पर कर्म में ही षष्ठी विहित होनी चाहिए। [इसलिए शब्दानामनुशासनम् = शब्दानुशासनम्, यह षष्ठी तत्पुरुष समास होगा।] किन्तु 'कर्मणि च' (पा० सू० २।२।१४) के अनुसार कर्म में षष्ठी होने पर समास नहीं होता, अतः शब्दानुशासन–शब्द किसी भी दशा में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

विशेष—'अनुशासन' शब्द अनु-पूर्वक √शास् में ल्युट् प्रत्यय करके बनता है। ल्युट् कृत् प्रत्यय है क्योंकि धातु से विहित, अतिङ् है (देखिये—कृदतिङ् ३।१।९३)। किसी धातु में कृत् प्रत्यय होने पर उस क्रिया के कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है। यदि किसी स्थान पर दोनों पहुँच जायँ तो कर्म का पलड़ा भारी रहता है। अनुशासन का कर्म 'शब्द' है अतः षष्ठी तो होगी पर 'कर्मणि च' सूत्र पहले से ही समास न होने देने के लिए तैयार है। 'शब्दानुशासन' यह समस्त (Compound) पद नहीं होगा; हाँ, 'शब्दों का अनुशासन' ऐसा व्यस्त वाक्य हो सकता है। केवल समास नहीं होगा, षष्ठी होने से कौन रोकता है ? यह शंका 'शब्दानुशासन' शब्द के साधुत्व पर ही उठाई गई है।

अत्रायं समाधिरभिधीयते—यस्मिन्कृत्प्रत्यये कर्तृकर्मणोरुभयोः प्राप्तिरस्ति, तत्र कर्मण्येव षष्ठीविभक्तिर्भवति न कर्तरीति बहुव्रीहिविज्ञानबलान्नियम्यते। तद् यथा—आश्चर्यो गवां दोहोऽशिक्षितेन गोपालकेनेति। शब्दानुशासनमित्यत्र तु शब्दानामनुशासनं नार्थानामित्येतावतो विवक्षितस्यार्थस्याचार्यस्य कर्तुरुपादानेन विनापि सुप्रतिपादत्वादाचार्योपादानमकिंचित्करम्।

अब इसका समाधान बतलाते हैं। सूत्र को बहुव्रीहि समास में तोड़ने पर (उभयोः प्राप्तिः यस्मिन्कृत्प्रत्यये स उभयप्राप्तिः) यह अर्थ निकलता है कि जब

कृत् प्रत्यय के होने पर [क्रिया के] कर्ता और कर्म दोनों का प्रयोग हो, वहाँ कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्ता में नहीं—यह नियम (Restriction) हुआ। जैसे—आश्चर्यो गवां दोहः अशिक्षितेन गोपालकेन (मूर्ख या अनाड़ी ग्वाले के द्वारा गौओं का दुहा जाना आश्चर्यजनक है)। ['उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र में ऊपर के 'कर्तृकर्मणोः कृति' से 'कृति' शब्द का अनुवर्तन होता है तथा 'उभयप्राप्तौ कृति' ऐसा करके दोनों में विशेष्य-विशेषण-भाव माना जाता है। अर्थ यह हुआ कि जिन कृत्-प्रत्ययों के प्रयोग में कर्ता और कर्म दोनों आ रहे हों वैसी अवस्था में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से कर्ता में होनेवाली षष्ठी न होकर केवल कर्म में ही हो—जब केवल कर्ता का प्रयोग हो तब उसमें षष्ठी होगी। 'दोहः' शब्द दुह् + घञ् करके बना है, दुह् का कर्ता है 'गोपालक' और कर्म है 'गो'। दोनों का प्रयोग एक ही साथ हुआ है अतः कर्ता में षष्ठी न होकर कर्म 'गो' को षष्ठी हुई—गवां दोहः। यह उस सूत्र का अर्थ है।]

'शब्दानुशासन' शब्द में तो 'शब्दों का अनुशासन, अर्थों का नहीं' इतनी ही बात कहने की है, जो कर्ता 'आचार्य' को बिना लाये भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है अतः 'आचार्य' शब्द का लाया जाना कोई विशेष प्रयोजन नहीं रखता।

तस्मादुभयप्राप्तेरभावादुभयप्राप्तौ कर्मणीत्येषा षष्ठी न भवति। किन्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) इति कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठीविभक्तिर्भवतीति कृद्योगलक्षणा षष्ठी भविष्यति। तथा च इध्मप्रव्रश्चन-पलाशशातनादिवत्समासो भविष्यति।

इसलिए दोनों (कर्ता और कर्म) का प्रयोग न होने से इस स्थान पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) से षष्ठी नहीं होती। ['कर्मणि च' (२।२।१४) के द्वारा जो कर्म में षष्ठी का समास-निषेध किया गया है वह 'उभय प्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से होने वाली षष्ठी का ही है। काशिका—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति षष्ठ्या इदं ग्रहणम् (पृ० १०१)। किसी अन्य सूत्र से यदि कर्म में षष्ठी हो तो उसका समास-निषेध नहीं होता।]

किन्तु यहाँ पर 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) सूत्र से कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म में (एक बार में एक के ही प्रयोग में) षष्ठी-विभक्ति होती है अतः कृत् प्रत्यय के प्रयोग से सम्बद्ध षष्ठी यहाँ होगी। [फल यह निकला कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' से षष्ठी नहीं हुई है कि समास न हो; यहाँ तो 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी हुई है अतः समास होने में कोई बाधा

नहीं।] अतः 'इध्मप्रव्रश्चन' (लकड़ी का चीरना), 'पलाशशातन' (पलाश का काटना) आदि शब्दों की तरह समास होगा। [इध्मस्य प्रव्रश्चनः = इध्मप्रव्रश्चनः। 'इध्म' में कर्मणि षष्ठी है परन्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' से हुई है अतः समास हुआ। उसी प्रकार 'शब्दानामनुशासनम् = शब्दानुशासनम्' भी होगा। 'षष्ठी' (पा० सू० २।२।८) पर वार्तिक भी है—कृद्योगा षष्ठी समस्यत इति वाच्यम् अर्थात् 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से होनेवाली षष्ठी विभक्ति से युक्त शब्द का समास दूसरे समर्थ सुबन्त के साथ हो सकता है।]

कर्तर्यपि षष्ठी भवतीति केचिद् ब्रुवते। अत एवोक्तं काशिकावृत्तौ (२।३।६६, पृ० १२२)—केचिदविशेषेणैव विभाषामिच्छन्ति, शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वेति।

अथवा शेषलक्षणेयं षष्ठी। तत्र किमपि चोद्यं नावतरत्येव। यद्येवं तर्हि शेषलक्षणायाः षष्ठ्याः सर्वत्र सुवचत्वात् षष्ठीसमास-प्रतिषेधसूत्राणामानर्थक्यं प्राप्नुयादिति चेत्—सत्यम्। तेषां स्वरचिन्तायामुपयोगो वाक्यपदीये हरिणा प्रादर्शि।

कुछ लोग कहते हैं कि कर्त्ता में भी षष्ठी होती है। इसीलिए काशिका-वृत्ति में कहा है—कुछ आचार्य बिना किसी भेद-भाव के यहाँ पर विकल्प चाहते हैं जैसे—शब्दानामनुशासनम् **आचार्येण, आचार्यस्य** वा। ['उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र पर एक वार्तिक है कि यह नियम (कर्म में ही षष्ठी होने का नियम) दो प्रत्ययों—अक (इका) और अ (आ)—के बाद स्त्रीप्रत्यय लगने पर लागू नहीं हो सकता। जैसे—भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्। यहाँ √भिद् + ण्वुल् (अक) + टाप् होने पर 'भेदिका' शब्द बना है; देवदत्त कर्त्ता है, काष्ठ कर्म। दोनों में षष्ठी हो गई है। इसी प्रकार, 'चिकीर्षा देवदत्तस्य काष्ठस्य' इस उदाहरण में √कृ + सन् + अ + टाप् से 'चिकीर्षा' बना और उसके कर्ता, कर्म दोनों में षष्ठी हुई है। स्त्रीलिंग के अन्य प्रत्ययों के साथ षष्ठी होना (कर्तरि षष्ठी होना) वैकल्पिक है—विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः पाणिनिना वा। अब इसके बाद कहा गया है कि कुछ लोग बिना भेद-भाव किये हुए (स्त्रीलिंग आदि का विचार किये ही बिना) वैकल्पिक 'कर्तरि षष्ठी' मानते हैं। उदाहरण ऊपर दिया ही है—शब्दानुशासन०। इसका परिणाम यह हुआ कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' का नियम असफल हो गया और इसीलिए 'कर्मणि च' सूत्र समास का निषेध नहीं कर सकता।]

या ऐसा करें कि यहाँ 'शेषे (= षष्ठी शेषे २।३।५०)' सूत्र से षष्ठी मानें [और समास-कार्य करें]। ऐसा करने पर कोई प्रश्न खड़ा नहीं हो सकेगा। अब कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि यदि ऐसा करेंगे तो सभी स्थानों में 'शेषे' सूत्र से होनेवाली षष्ठी ही आसानी से कह दी जायगी और षष्ठी समास का निषेध करने वाले सूत्र (पा० सू० २।२।१० से २।२।१६ तक) निरर्थक हो जायेंगे।

ठीक कहते हैं किन्तु ऐसी बात नहीं। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में दिखलाया है कि इन सूत्रों का उपयोग स्वर (Accent) का विचार करने के समय होता है।

विशेष—स्व और स्वामी का संबंध या ऐसा ही दूसरा संबंध अन्य कारकों में नहीं आ सका है इसलिए वैसी स्थिति में अवशिष्ट संबंधों का निर्देश 'शेष' के द्वारा होता है और उसमें षष्ठी होती है। जैसे—राज्ञः पुरुषः। पशोः पादः। वास्तव में कर्म आदि कारकों में भी कर्मत्व आदि नहीं हो तभी शेष-षष्ठी होती है जैसे—ग्रामस्य गच्छति। इसे ही शास्त्रीय-शब्द में शेषलक्षणा षष्ठी कहते हैं। यहाँ कर्म की विवक्षा ही नहीं है अतः 'उभयप्राप्तौ' वाला नियम लगेगा ही नहीं कि समास का निषेध हो। लेकिन हर जगह 'शेषे' का प्रयोग करने से बड़ी अराजकता छा जायगी। सभी शब्द समास के लिये 'शेषे' के अधिकार में आने लगेंगे तथा समास-निषेधक सूत्रों की पूछ ही नहीं होगी। 'गवां दोहः' में कर्मत्व की विवक्षा नहीं है। ऐसा कहकर 'शेषे षष्ठी' मानते हुए 'गोदोहः' समास बना देंगे तब समास के निषेध का लाभ ही क्या हुआ ?

नहीं, निषेध-सूत्रों की आवश्यकता है और वह है स्वर-विचार में। 'गोदोहः' शब्द में यदि 'षष्ठी शेषे' मान कर समास कर दें तो 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) सूत्र के अनुसार यह पद अन्तोदात्त हो जायगा और यही होता भी है। उक्त सूत्र का अपवाद सूत्र 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि इसका पूर्वपद 'गो' न तो गति-संज्ञक है और न कारक ही। स्मरणीय है 'गो' यद्यपि कर्मकारक है परन्तु कर्मत्व अविवक्षित (अनीप्सित) होने से उसमें कारकता रही ही नहीं। दूसरे शब्दों में, 'षष्ठी शेषे' से होने वाली षष्ठी में कारक नहीं रहता। सूत्र का अर्थ है गति, कारक या उपपद यदि पूर्वपद में हो तो उत्तर-पद के कृदन्त शब्द में प्रकृतिस्वर होता है। यदि समास का निषेध न करें तो 'गो' शब्द में 'कर्मणि षष्ठी' होने पर भी 'दोह' शब्द के साथ इसका समास हो जायगा। तब पूर्वपद 'गो' कारक हो जायगा (∵ कर्मणि षष्ठी हुई है)। इस दशा में उत्तर-पद 'दोहः' घञ् प्रत्यय से बना है अतः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१९७) के अनुसार यह शब्द

आद्युदात्त होगा। नो समास में—गोदोहः ऐसा हो जायगा जो मध्योदात्त-पद है। लेकिन ऐसा होता नहीं। होता है ऊपर जैसा ही—गोदोहः। यही कारण है कि समास का निषेध करते हैं।

तदाह महोपाध्यायवर्धमानः—

१. लौकिकव्यवहारेषु यथेष्टं चेष्टतां जनः।
वैदिकेषु तु मार्गेषु विशेषोक्तिः प्रवर्तताम्॥
२. इति पाणिनिसूत्राणामर्थवत्त्वमसौ यतः।
जनिकर्तुरिति ब्रूते तत्प्रयोजक इत्यपि॥ इति।

तथा च शब्दानुशासनापरनामधेयं व्याकरणशास्त्रमारब्धं वेदितव्यमिति वाक्यार्थः संपद्यते।

इसे महोपाध्याय वर्धमान कहते हैं—'लौकिक व्यवहार के समय तो लोग अपनी इच्छा से ही काम करें (क्योंकि लौकिक वाक्यों में स्वर का विचार नहीं होता)। किन्तु वैदिक शब्दों के प्रयोग में विशेष विधि के अनुसार चलें ॥ १ ॥ पाणिनि के सूत्रों की सार्थकता यही है नहीं तो वे 'जनिकर्तुः' (१।४।३०) और 'तत्प्रयोजक' (१।४।५५) जैसे [समास न होने वाले समस्त पदों का] प्रयोग करते हैं ॥ २ ॥

तो, इस तरह 'शब्दानुशासन' शब्द से भी अभिहित व्याकरण-शास्त्र का आरम्भ समझें, यह वाक्यार्थ निकला।

विशेष—पाणिनि की बहुत-सी उक्तियाँ केवल स्वर-विचार के उद्देश से की गई हैं, लोक में उनका कोई काम नहीं। जैसे—समास-निषेधक सूत्र, विभिन्न अनुबन्ध आदि। यही पाणिनि की विशेषोक्ति है—इनका लोक में काम नहीं, पर वेद में तो होता है। अतः पाणिनि के सूत्र निष्फल नहीं हैं। पाणिनि स्वयं लिखते हैं—तृजकाभ्यां कर्तरि (२।२।१५) अर्थात् जो षष्ठी कर्ता में होती है उसका समास तृच् प्रत्ययान्त या अकप्रत्ययान्त शब्द के साथ नहीं होता। जैसे—भवतः शायिका, आसिका (आपकी शय्या, आसन)। किन्तु वे स्वयं इस नियम का उल्लंघन करते हैं और जनिकर्तुः (=जनिकर्तृ), तत्प्रयोजकः जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे पता लगता है कि समास के निषेधक सूत्रों का यह प्रयोजन नहीं है कि ऐसे स्थानों में समस्त पदों को अशुद्ध घोषित करें, प्रत्युत वे विशेष स्वर की सिद्धि में ही सहायक होते हैं। पाणिनि का यही लक्ष्य मालूम पड़ता है।

(३. शब्दानुशासन से प्रयोजन की सिद्धि)

तस्यार्थस्य झटिति प्रतिपत्तये 'अथ व्याकरणम्' इत्येवाभिधीयताम्। अथ शब्दानुशासनमित्यधिकाक्षरं मुधाभिधीयत इति। मैवम्। शब्दानुशासनमित्यन्वर्थसमाख्योपादाने तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानसिद्धेः। अन्यथा प्रयोजनानभिधाने व्याकरणाध्ययनेऽध्येतॄणां प्रवृत्तिरेव न प्रसजेत्।

उसी अर्थ का शीघ्रतर बोध कराने के लिए 'अथ व्याकरणम्' ही कहना चाहिए। 'अथ शब्दानुशासनम्' कह कर अक्षरों की संख्या में व्यर्थ की वृद्धि करते हैं। लेकिन ऐसा नहीं सोचना चाहिए। शब्दानुशासन नाम (समाख्या) अर्थ के अनुकूल ही रखा गया है। यह शास्त्र [वैदिक शब्दों का अर्थ बतलाने के कारण] वेदाङ्ग है, इसका प्रतिपादन करने वाले प्रयोजन (लक्ष्य) का भी कथन साथ-ही-साथ हो जाता है। [शब्दानुशासन कहने से न केवल व्याकरण-शास्त्र की प्रतीति होती है प्रत्युत व्याकरण के प्रयोजन—शब्दों के संस्कार—का भी बोध हो जाता है। व्याकरण कहने से इतना बोध नहीं होता। केवल शास्त्र की ही प्रतीति होती।] यदि प्रयोजन का कथन नहीं किया जाय तो व्याकरण के अध्ययन की ओर अध्येताओं की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

ननु 'निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः' इत्यध्येतव्यविधानादेव प्रवृत्तिः सेत्स्यति इति चेत्—मैवम्। तथा विधानेऽपि तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनानभिधाने तेषां प्रवृत्तेरनुपपत्तेः। तथा हि—पुरा किल वेदमधीत्याध्येतारस्त्वरितं वक्तारो भवन्ति।

अब यदि ऐसा कहें कि '[ब्राह्मण को] बिना किसी स्वार्थ के (साक्षात् फल की आशा किये बिना ही, नित्यरूप से) धर्म का तथा षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिए'—इस विधि में जो 'अध्येतव्य' शब्द है उसी के द्वारा अध्ययन की प्रवृत्ति होगी, तो हम उत्तर देंगे कि ऐसी बात नहीं है। ऐसा विधान होने पर भी उस (शास्त्र) का एक प्रयोजन जो वेदाङ्ग होना है, उसे बतलाये बिना उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए [ऐसी बातें उन्हें कहनी चाहिए कि] पहले वेद का अध्ययन करके लोग शीघ्र वक्ता बन जाते थे। [यह वाक्य वेदाध्ययन की विधि का अर्थवाद अर्थात् विज्ञापन है जिससे लोग उस ओर प्रवृत्त हों। वैसे ही व्याकरण में इस तरह का विज्ञापन

रहना चाहिए। 'शब्दानुशासन' शब्द में वह आकर्षण-शक्ति है! अतः यही शब्द उपयुक्त है।]

वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः।

तस्मादनर्थकं व्याकरणमिति। तस्माद्वेदाङ्गत्वं मन्यमानास्तदध्ययने प्रवृत्तिमकार्षुः। ततश्च इदानींतनानामपि तत्र प्रवृत्तिर्न सिध्येत्। सा मा प्रसाङ्क्षीदिति तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकं प्रयोजनमन्वाख्येयमेव।

'वेदों से वैदिक शब्द सिद्ध हुए और लौकिक व्यवहार से लौकिक शब्द'—इसलिए व्याकरण को व्यर्थ समझ कर, उसे केवल वेदाङ्ग मानकर ही उसके अध्ययन में पहले के लोग प्रवृत्ति प्रदर्शित करते थे। [किसी विशेष प्रयोजन का ज्ञान उन्हें नहीं था, विधि के अनुसार चलते हुए वे अध्ययन कर जाते थे।]* तो आजकल के लोगों की भी प्रवृत्ति नहीं ही होगी। ऐसी स्थिति न उत्पन्न हो जाय इसलिए 'वह वेदाङ्ग है' इसका प्रतिपादन करने वाला प्रयोजन कह ही देना चाहिए। [शब्दानुशासन कहने से स्पष्ट हो जायगा कि व्याकरण एक वेदाङ्ग है, इसके अध्ययन में लगना चाहिए।]

यद्यन्वाख्यातेऽपि प्रयोजने न प्रवर्तेरंस्तर्हि लौकिकशब्दसंस्कारज्ञानरहितास्ते याज्ञे कर्मणि प्रत्यवायभाजो भवेयुः। धर्माद्धीयेरन्। अत एव याज्ञिकाः पठन्ति—आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत् (पात० म० भा० पस्पश०) इति।

यदि प्रयोजन बतला देने पर भी उस ओर प्रवृत्त नहीं हो तो लौकिक शब्दों के संस्कार (रचना, व्युत्पत्ति, Formation) के ज्ञान से शून्य होने के कारण यज्ञ के कर्म में वे पाप के भागी होंगे तथा धर्म से च्युत होंगे। इसीलिए याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'आहिताग्नि पुरुष यदि अपशब्द (अशुद्ध शब्द) का प्रयोग करे तो प्रायश्चित्त के रूप में उसे सरस्वती देवता की इष्टि (यज्ञविशेष) करनी चाहिए' (महाभाष्य, पृ० ४ पस्पश में उद्धृत)। [जो याज्ञिक व्याकरण नहीं जानते और यज्ञ कराने लगते हैं उन्हें शब्दार्थ का ज्ञान न होने से पद-

* उनकी प्रवृत्ति नैसर्गिक नहीं थी, बनानी पड़ती थी। विधि के अनुसार अपने जीवन के कार्यक्रम उन्हें निश्चित करने थे।

पद पर अशुद्धियाँ गले लगाने को तैयार रहती हैं—वे पापभागी होते हैं। अपशब्द के प्रयोग से होने वाले पाप का प्रायश्चित्त सारस्वत इष्टि से होता है।]

अतस्तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानार्थमथ शब्दानुशासनमित्येव कथ्यते, नाथ व्याकरणमिति। भवति च शब्द-संस्कारो व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनम्। तस्माच्छब्दानुशिष्टिः संस्कारपदवेदनीया शब्दानुशासनस्य प्रयोजनम्।

इसलिए उसके वेदाङ्ग होने का प्रतिपादन करनेवाले प्रयोजन को बतलाने के लिए 'अथ शब्दानुशासनम्' यही कहते हैं, 'अथ व्याकरणम्' नहीं। व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन भी शब्द का संस्कार (बनावट) बतलाना ही है। क्योंकि उसके उद्देश्य से व्याकरण की प्रवृत्ति होती है। जैसे स्वर्ग के उद्देश्य से किये गये याग का प्रयोजन स्वर्ग ही है। इसलिए 'संस्कार' (बनावट) शब्द के द्वारा समझी जानेवाली शब्दानुशिष्टि ((शब्दों की रचना) ही शब्दानुशासन का प्रयोजन है।

विशेष—इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पतंजलि ने व्याकरण का नाम शब्दानुशासन कुछ विशेष उद्देश्य से रखा है कि नाम से ही प्रयोजन की सिद्धि हो जाय।

(४. व्याकरणशास्त्र की विधि—प्रतिपदपाठ नहीं)

नन्वेवमप्यभिमतं प्रयोजनं न लभ्यते। तदुपायाभावात्। अथ प्रतिपदपाठ एवाभ्युपाय इति मन्येथास्तर्हि स ह्यनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठो भवेत्। शब्दापशब्दभेदेनानन्त्याच्छब्दानाम्। एवं हि समाम्नायते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदपाठविहितानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता। इन्द्रोऽध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। न च पारावाप्तिरभूत्। किमुताद्य यश्चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। अधीतिबोधाचरणप्रचारणैश्चतुर्भिरुपायैर्विद्योपयुक्ता भवति। तत्राध्ययनकालेनैव सर्वमायुरुपयुक्तं स्यात्।

[पूर्वपक्षियों की शंका है कि] ऐसा होने पर भी अभीष्ट प्रयोजन की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उस (प्रयोजन की प्राप्ति) के लिए कोई उपाय नहीं है (= शब्दसंस्कार के ज्ञान का अर्थात् कौन-कौन शब्द शुद्ध हैं कौन-कौन अशुद्ध—इसको जानने का उपाय है ही नहीं)। यदि आप कहें कि प्रत्येक शब्द को पढ़ डालना ही उपाय है तो यह प्रतिपद-पाठ शब्दों के ज्ञान का उपाय नहीं है, [यह तो अध्येता का मरण है] । शब्द और अपशब्द के भेद से शब्दों के अनंत भेद हैं (=कुछ शब्द शुद्ध हैं, कुछ अशुद्ध) ।

ऐसी कथा कही जाती है (परम्परा से चली आती है)—बृहस्पति ने इन्द्र के सामने एक हजार दिव्य वर्ष तक प्रत्येक पद का पाठ करते हुए शब्दों का पारायण किया किन्तु अन्त तक नहीं पहुँच सके (= उतने समय में भी सभी शब्दों का पाठ नहीं कर सके) । [जरा सोचिये !] बृहस्पति-जैसे अध्यापक, इन्द्र जैसे अध्येता और एक हजार दिव्य वर्ष अध्ययन का समय ! फिर भी अन्त की प्राप्ति नहीं हुई !! आज की तो बात ही क्या है ? जो बहुत जीता है तो एक सौ वर्षों तक जीता है । अध्ययन (Study), बोध (Understanding), आचरण (Practice) तथा प्रचारण (पढ़ाना Teaching)—इन चार उपायों से विद्या उपयोगी बनती है । [इधर प्रतिपद-पाठ करने से व्याकरण के] अध्ययनकाल में ही सारी आयु का उपयोग हो जायगा (अन्य कालों का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा) ।

विशेष—प्रतिपद-पाठ का अर्थ है प्रत्येक शब्द (रामः, कृष्णः आदि) का पाठ करके उसका साधुत्व बतलाना । यह उपाय (Method) व्याकरण-शास्त्र का नहीं हो सकता, इसे आगे बतलाते हैं । 'शब्दानां शब्दपारायणम्' में द्विरुक्ति नहीं है । 'शब्दपारायण' एक शब्द है जो व्याकरण-शास्त्र के अर्थ में रूढ (योगरूढ) हो गया है । इसी से बोध होने पर भी 'शब्दानाम्' का अलग प्रयोग इसलिए किया गया है कि 'प्रतिपदपाठविहितानाम्' विशेषण को स्थान मिल सके । 'वाचमवोचत्' में व्यर्थता होने पर भी 'शुचिस्मितां वाचमवोचत्' ठीक है क्योंकि 'वाचम्' का विशेषण दिया गया है । शिशुपालवध (१।२५) । उक्त कथा का उद्धरण पतंजलि ने महाभाष्य में दिया है । अन्त में प्रतिपदपाठ-विधि का खण्डन करके उत्सर्गापवाद-विधि का प्रतिपादन किया जायगा ।

तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठ इति प्रयोजनं न सिध्येदिति चेत्—मैवम् । शब्दप्रतिपत्तेः प्रतिपद-पाठसाध्यत्वानङ्गीकारात् । प्रकृत्यादिविभागकल्पनावत्सु लक्ष्येषु

सामान्यविशेषरूपाणां लक्षणानां पर्जन्यवत्सकृदेव प्रवृत्तौ बहूनां शब्दानामनुशासनोपलम्भाच्च ।

इसलिए शब्दों के ज्ञान के लिए प्रत्येक शब्द का पाठ करना उपाय नहीं हो सकता, अतः व्याकरण के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी ।

[पूर्वपक्षी की इस शंका पर वैयाकरण कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं। हम भी यह स्वीकार नहीं करते कि शब्द का ज्ञान प्रतिपद पाठ से मिल सकता है (साध्य है)। [प्रतिपदपाठ के द्वारा व्याकरण नहीं चलता—हमारी भी यही मान्यता है । लक्ष्य के रूप में जो शब्द हैं उनमें प्रकृति आदि (= प्रत्यय, पद, वाक्य) के विभागों की कल्पना की जाती है तथा उनके लिए सामान्य और विशेष लक्षणों (सूत्रों) की प्रवृत्ति एक बार ही मेघ की तरह होती है जिससे बहुत-से शब्दों का अनुशासन देखा जाता है ।

विशेष—पतंजलि अपने भाष्य में शब्दानुशासन की प्रक्रिया बतलाते हुए कहते हैं—**कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यं येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ ।** (पृ० ६) उन्हीं का शब्दान्तर करके माधवाचार्य दिये जा रहे हैं । पर्जन्यवत् प्रवृत्ति का अर्थ है कि जैसे मेघ एक ही साथ सभी स्थलों पर, समुद्र और मरुभूमि में भी, जल बरसाता है उसी तरह किसी सामान्य या विशेष लक्षण से एक ही साथ अनेकानेक शब्दों का अनुशासन होगा, अलग-अलग उन्हें देखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । महाभाष्य (१।१।२९) में कहा है—**कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत् । तद्यथा पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति ।**

तथा हि । 'कर्मण्यण्' (पा० सू० ३।२।१) इत्येकेन सामान्यरूपेण लक्षणेन कर्मोपपदाद्धातुमात्रादण्प्रत्यये कृते, 'कुम्भकारः' 'काण्डलावः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते। एवम्, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० सू० ३।२।१८) इत्येकेन विशेषलक्षणेनाकारान्ताद्धातोः कप्रत्यये कृते, 'धान्यदः' 'धनदः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते । बृहस्पतिरिन्द्रायेति प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वप्रतिपादनपरोऽर्थवादः ।

उदाहरण के लिए, **कर्मण्यण्** (३।२।१ अर्थात् कर्म के उपपद में रहने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है)—इस अकेले सामान्य सूत्र (लक्षण) से

उन सभी धातुओं से, जिनके उपपद में कोई कर्म हो, अण् प्रत्यय किया जाता है तथा कुम्भकार: (कुम्भं करोति, कुम्भ + √कृ + अण्), काण्डलाव: (काण्डं लुनाति, काण्ड + √लूञ् + अण्) इत्यादि बहुत-से शब्दों का अनुशासन अर्थात् संस्कार पाया जाता है। उसी तरह, आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।१८ अर्थात् यदि उपसर्ग उपपद में न रहे तो आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है)—इस अकेले ही विशेष सूत्र से आकारान्त धातु के बाद क प्रत्यय किया जाता है तथा धान्यदः (धान्यं ददाति, धान्य + √दा + क), धनदः (धनं ददाति, धन + √दा + क) इत्यादि बहुत-से शब्दों का अनुशासन पाया जाता है। 'बृहस्पति ने इन्द्र को पढ़ाया' इत्यादि कथा प्रतिपद-पाठ की सामर्थ्यहीनता का प्रतिपादन करनेवाला अर्थवाद है। [अर्थवाद का सामान्य अर्थ है स्तुति या निन्दा करने वाले वाक्य जो किसी बात को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करें। यहाँ पर 'प्रतिपद-पाठ असंभव है' यही दिखाना है जिसे कथा के रूप में दिया गया है।]

विशेष—व्याकरण-शास्त्र की यही विधि है कि विभिन्न लक्ष्यों की सिद्धि के लिए कुछ सामान्य लक्षण देते हैं तथा उनके अपवाद दिखाने के लिए विशेष लक्षण देते हैं सामान्य सूत्रको विशेष सूत्र दबा देता है। इसी प्रणाली से पाणिनि ने व्याकरण लिखा है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में इन समस्याओं पर बहुत सुन्दर विचार प्रस्तुत किया गया है।

(५. व्याकरण के अन्य प्रयोजन)

नन्वन्येष्वप्यङ्गेषु सत्सु किमित्येतदेवाद्रियते ? उच्यते—प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति। तदुक्तम्—

३. आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गमाहुर्व्याकरणं बुधाः॥

(वा० प० १।११) इति।

तस्माद् व्याकरणशास्त्रस्य शब्दानुशासनं भवति साक्षात्प्रयोजनम्। पारंपर्येण तु वेदरक्षादीनि। अत एवोक्तं भगवता भाष्यकारेण—रक्षोहागमलघ्वसंदेहा प्रयोजनम्। (पा० म० भा० पस्पश) इति।

अब प्रश्न हो सकता है कि जब दूसरे वेदाङ्ग भी विद्यमान हैं तो इस (व्याकरण-शास्त्र) का ही इतना अधिक आदर क्यों किये जा रहे हैं ? उत्तर होगा कि छहों वेदाङ्गों में व्याकरण ही प्रधान है और प्रधान विषय में किया गया परिश्रम ही सफल होता है। यही कहा है—'यह उस [परम] ब्रह्म के निकट है तथा तपस्याओं में सबसे उत्तम तपस्या है; विद्वान् लोग व्याकरण को वेदों का प्रथम (प्रधान) अंग कहते हैं।' (वाक्यपदीय १।११)।

इसलिए व्याकरण शास्त्र का साक्षात् (सीधा) प्रयोजन है शब्दों का अनुशासन करना (संस्कार बतलाना)। परंपरा से (परोक्ष रूप से, घुमा फिरा कर) वेद की रक्षा आदि भी [इसके प्रयोजन ही हैं]। इसीलिए भगवान् भाष्यकार ने कहा है—रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असंदेह—ये [व्याकरण शास्त्र के] प्रयोजन हैं। (महाभाष्य, पृ० १)।

विशेष—व्याकरण के इन प्रयोजनों का उद्धरण कितने ही स्थानों पर दिया जाता है। अतः उन्हें अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

(१) **रक्षा** (Preservation)—वेदों की रक्षा करने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। वेदों में बहुत से ऐसे-ऐसे रूप हैं जो लौकिक भाषा में नहीं हैं जैसे—देवासः (देवाः), देवेभिः (देवैः), त्मना (आत्मना)। इन अलौकिक रूपों को देखकर व्याकरण न जाननेवाला व्यक्ति भ्रम से इनका संशोधन कर दे सकता है जिससे वेद की आनुपूर्वी (शब्दक्रम) के भंग होने का भय है। व्याकरण जाननेवाला व्यक्ति संबद्ध सूत्रों से उनकी सिद्धि देखकर वेद के क्रम की रक्षा कर सकता है।

(२) **ऊह**—(Inference)—ऊह का अर्थ है वैदिक शब्दों का देवता, लिंग, वचनादि के अनुसार परिवर्तन कर देना। एक मन्त्र है—'अग्नये जुष्टम्' (तै० सं० १।१।४)। अब यदि सूर्य देवता को हवि दान करना हो तो 'सूर्याय जुष्टम्' कहेंगे। वेद में पाठ है—'अन्वेनं माता मन्यताम्'। इसका प्रयोग एक पशु के लिए होता है। जब पशुओं की संख्या बढ़ेगी तो एनौ, एनान् रूप करने पड़ेंगे। अतः परिस्थिति के अनुसार वचन का परिवर्तन करना है। पतंजलि कहते हैं कि वेद में मन्त्र सभी लिंगों और सभी विभक्तियों में नहीं पढ़े गये हैं। यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार उनके लिंगों और विभक्तियों में परिवर्तन करना पड़ता है। यह काम बिना व्याकरण जाने नहीं हो सकता।

(३) **आगम**—(Scripture)—एक वाक्य है कि ब्राह्मण को बिना स्वार्थ (कामना) के नित्य रूप से धर्म और छह अंगों के साथ वेद का

अध्ययन करना चाहिए और जानना भी चाहिए। हरदत्तादि इस वाक्य को श्रुति मानते हैं जब कि कुमारिल आदि इसे स्मृति मानते हैं। (स्मृति भी आगम-मूलक होने से आगम ही है)। इस आगम से तो पता लगता है कि व्याकरण का अध्ययन नित्य रूप से दृष्ट फल की अभिसंधि रखे ही बिना करना चाहिए। यही नहीं, व्याकरण वेदाङ्गों में प्रधान है और प्रधान विषय में किया गया परिश्रम सफल होता है।

(४) लघु (Facility)—किसी व्यक्ति को शब्दों का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए व्याकरण से छोटा उपाय हो ही नहीं सकता। प्रतिपद-पाठ करते-करते आदमी मर जायगा पर समाप्ति नहीं होगी। व्याकरण सरलतम विधि से शब्द-ज्ञान करा देता है।

(५) असन्देह (Ascertainment)—व्याकरण-शास्त्र ही सन्देह का निवारण करता है। श्रुति में कहा है—स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत। अनड्वाही का अर्थ है गाय। उसका विशेषण है स्थूलपृषती। अब यह सन्देह है कि 'स्थूला चासौ पृषती' अर्थात् ऐसी गाय लायें जो स्थूल (मोटी) और गोले-गोले चिह्नों से युक्त भी हो (कर्मधारय समास) अथवा 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा' (जिसके गोले चिह्न बड़े हों ऐसी गाय—बहुव्रीहि समास) हो। पहले विग्रह में गौ के चिह्न बड़े हों या छोटे हों, कोई बात नहीं। दूसरे विग्रह में गौ मोटी हो या पतली, कोई बात नहीं। एक बड़ा अन्तर है। अब वैयाकरण 'स्थूलपृषती' शब्द में पूर्वपद का अन्तोदात्त देखकर निश्चित कर लेता है कि यहाँ बहुव्रीहि समास होगा क्योंकि इसके लिए सूत्र है—'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) जिससे पूर्वपद का प्रकृति-स्वर होता है। यदि कर्मधारय होता तो 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) से अन्तोदात्त होता। इस प्रकार वैयाकरण सन्देह का निवारण करता है।

(५ क. व्याकरण से अभ्युदय की प्राप्ति)

साधुशब्दप्रयोगवशादभ्युदयोऽपि भवति। तथा च कथितं कात्यायनेन—शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देनेति। अन्यैरप्युक्तम्—एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवतीति। तथा—

४. नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वड्वाग्रथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति ये चिक्कमितभाषिणः॥

इसके अतिरिक्त शुद्ध शब्दों के प्रयोग के कारण अभ्युदय की प्राप्ति भी होती है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—'[व्याकरण] शास्त्र का ज्ञान पाकर जो प्रयोग किया जाय उससे अभ्युदय प्राप्त होता है क्योंकि यह शास्त्र 'वेद' (जानता है) शब्द के समान ही है। [एक ब्राह्मण वाक्य है—'योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' अर्थात् जो व्यक्ति अश्वमेध के द्वारा अग्निष्टोम-याग करता है या उसकी विधि को जानता है उसे फल मिलता है (तै० ब्रा० ३।१।७)। यहाँ 'वेद' शब्द की ध्वनि है कि ज्ञानपूर्वक जो याग करता है उसे ही फल मिलता है। उसी तरह व्याकरण जानकर जो शब्दों का प्रयोग करता है, उसे अभ्युदय मिलता है। 'वेद' (जानता है) का जो महत्त्व अग्निष्टोम के लिए है, वही व्याकरण-ज्ञान का शब्द-प्रयोग के लिए भी है।]

दूसरे लोगों ने भी कहा है—'एक ही शब्द यदि अच्छी तरह (प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके) जान लिया गया और अच्छी तरह से उसका प्रयोग भी किया गया तो वह स्वर्ग में और इस लोक में भी कामनाओं की पूर्ति करता है (यथेष्ट फल देता है)।' उसी प्रकार—'सुसज्जित और बँधी हुई [शुद्ध) वाणी रूपी रथ के द्वारा लोग अभीष्ट सुख देने वाले स्वर्गलोक में जाते हैं; किन्तु जो व्यक्ति 'चिक्क' शब्द के समान (अपशब्द) बोलनेवाले हैं वे पैरों से राह को पीटते हुए (= पैदल) ही जाते हैं।'

विशेष—यह श्लोक काशिका में ३।१।४८ की व्याख्या में दिया गया है किन्तु वहाँ कुछ पाठान्तर है—

नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः॥

किन्तु काशिका की दोनों ही व्याख्याओं—पदमञ्जरी और न्यास—में इस श्लोक की व्याख्या का अभाव देखकर इसकी मौलिकता पर संदेह होता है। कुछ भी हो, इसके द्वारा सुन्दर शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर बल दिया जाता है।

नन्वचेतनस्य शब्दस्य कथमीदृशं सामर्थ्यमुपपद्यत इति चेत्—मैवं मन्येथाः। महता देवेन साम्यश्रवणात्। तदाह श्रुतिः—

५. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥
(ऋ० सं० ४।५८।३) इति।

अब यदि यह पूछा जाय कि शब्द तो अचेतन है, उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ से आ जायगी ? तो हम कहेंगे कि ऐसा मत समझिये क्योंकि महान् देव (ईश्वर) से इसकी समता सुनी जाती है (= श्रुति में प्रतिपादित है)। तो श्रुति कहती है—'इसकी चार सींगें और तीन पैर हैं, दो सिर हैं तथा इसके सात हाथ हैं; तीन तरह से बँधकर यह वृषभ ध्वनि उत्पन्न करता है, वह महान् देव (शब्द रूप में) मनुष्यों में प्रवेश करता है' (ऋ० सं० ४।५८।३)। [यह ऋचा महानारायणोपनिषद् १०।१ में भी ज्यों-की-त्यों उद्धृत है] *

व्याचकार च भाष्यकारः—चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपाताः। त्रयो अस्य पादा लडादिविषयास्त्रयो भूतभविष्यद्वर्तमानकालाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदात्। सप्त हस्तासो अस्य, तिङा सह सप्त सुब्विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु उरसि कण्ठे शिरसि च बद्धः। वृषभ इति प्रसिद्ध-वृषभत्वेन रूपणं क्रियते। वर्षणात्। वर्षणं च ज्ञानपूर्वकानुष्ठानेन फलप्रदत्वम्। रोरवीति शब्दं करोति। रौतिः शब्दकर्मा।

इह शब्दशब्देन प्रपञ्चो विवक्षितः। महो देवो मर्त्यां आविवेश। महान् देवः शब्दो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्ता-नाविवेशेति। महता देवेन परेण ब्रह्मणा साम्यमुक्तं स्यात् (महाभाष्यम्, पृ० ३) इति।

भाष्यकार (पतंजलि) ने इसकी व्याख्या भी की है। चार सींगों का अर्थ है चार पद-भेद अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इसके तीन पैर हैं लट् आदि लकारों के विषय अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल। दो सिर हैं = शब्द के दो स्वरूप हैं, नित्य और कार्य। इन दोनों में यही भेद है कि एक व्यंग्य है दूसरा व्यंजक। [नित्य शब्द आन्तर रूप से विद्यमान है, यही व्यंग्य

---

* 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (६।१।७०) से शृङ्गाणि के स्थान में शृङ्गा, 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (६।१।११५) से 'त्रयो अस्य' में प्रकृतिभाव, वही बात 'हस्तासो अस्य' में, 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) से हस्तासः, 'दीर्घादटि समान-पादे' (८।३।९) तथा 'आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) से महान् को अनुनासिक महाँ। देखिये—वैदिकी प्रक्रिया के संबद्ध सूत्र और उनकी टीका।

है क्योंकि इसीकी अभिव्यक्ति होती है। दूसरी ओर सुनाई पड़नेवाला वैखरी के रूप का शब्द कार्य है, यह वाह्य है और व्यंजक भी क्योंकि नित्य शब्द की अभिव्यक्ति इसी के द्वारा समझी जाती है। इसे आगे स्पष्ट करेंगे।]

इसके सात हाथ हैं अर्थात् तिङन्त (क्रिया) के साथ लगने वाली सुबन्त की सात विभक्तियाँ इसमें हैं। तीन प्रकार से बँधा है = तीन स्थानों में, हृदय, कंठ और सिर में निबद्ध है। [वर्ग के पंचम वर्णों तथा यरलव के साथ ह का स्थान हृदय में है। अ, कवर्ग, ह और विसर्ग का स्थान कंठ है। मुख के अन्तर्गत तालु आदि दूसरे स्थानों का संग्रह भी कंठ से ही हो गया है। अन्त में ऋ, टवर्ग, र ष का स्थान सिर (मूर्धा) है। इस प्रकार शब्दों के तीन स्थान हैं जहाँ वे टकरा कर अभिव्यक्त होते हैं।]

'वृषभ' शब्द के द्वारा प्रसिद्ध (लौकिक) वृषभ (बैल) का रूपक रखा गया है। क्योंकि दोनों ही वर्षण करते हैं (√वृष्)। यहाँ (शब्द-पक्ष में) वर्षन का अभिप्राय है [व्याकरण शास्त्र का] ज्ञान प्राप्त करके अनुष्ठान करना और उसका फलप्रद होना। 'रोरवीति' का अर्थ है 'शब्द करता है'। √रु = शब्द करना।

यहाँ [जो 'रोरवीति = शब्दं करोति' कहा, उसमें प्रयुक्त] 'शब्द' शब्द के द्वारा इस पूरे प्रपंच (संसार) का अर्थ लिया गया है। [नित्य शब्द से ही यह पूरा संसार बना है, वही इसका प्रपंच अर्थात् विस्तार करता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में ही इसे स्पष्ट किया है जो आगे उद्धृत की जायगी।]

महान् देव मनुष्यों में प्रवेश करते हैं। महान् देव अर्थात् शब्द। मर्त्य का अर्थ है मरण धर्म वाले मनुष्य, उनमें ही वह (शब्द) प्रवेश करता है। महान् देव अर्थात् परम ब्रह्म से समता (सायुज्य) का वर्णन किया गया है। (महाभाष्य, पृ० ३)।

विशेष—इस ऋचा की प्रस्तुत व्याख्या का तात्पर्य यही है कि परब्रह्म के स्वरूप से युक्त अन्तर्यामी शब्द मनुष्यों में प्रविष्ट है। व्याकरण-शास्त्र से उत्पन्न शब्दज्ञान रखकर जो प्रयोग किया जायगा तो मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो जायँगे और वे अहंकार आदि की ग्रन्थियों को तोड़कर अपने अन्तरतम में विद्यमान शब्द-ब्रह्म के साथ आत्यन्तिक रूप से संसक्त हो जायँगे। इस पहेली की तरह प्रतीत होने वाली ऋचा की व्याकरणपरक व्याख्या तो पतंजलि ने की है, यास्क ने (? १३।७) इसकी यज्ञपरक व्याख्या की है जिसे सायण ने भी लिया है। राजशेखर ने इसका साहित्यिक अर्थ लिया है। भाष्यकार के

नाम से उद्धरण देने पर भी माधवाचार्य ने मनमानी की है—अपनी इच्छा से भाष्य की पंक्तियों का परिवर्तन करने चले गये हैं।

(६. शब्द ही ब्रह्म है)

जगन्निदानं स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे—

६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

(वाक्यप० १।१) इति।

संसार का निदान (मूल कारण Ultimate cause), 'स्फोट' के नाम से प्रसिद्ध तथा अवयवों से रहित जो नित्य शब्द है वह ब्रह्म ही है। ऐसा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में कहा है—'आदि और अन्त से रहित, विकारशून्य शब्द का तत्त्व (Reality) ही ब्रह्म है—वही संसार की विभिन्न वस्तुओं (अर्थों) के रूप में प्रतिभासित होता है तथा उसी से इस संसार की सारी प्रक्रियायें होती हैं' (वाक्यपदीय १।१)।

विशेष—जिस प्रकार वेदान्त में संसार को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं उसी प्रकार यहाँ भी संसार शब्द-रूपी ब्रह्म का विवर्त (मिथ्याप्रतीति) है। इस दृष्टि से अनादि शब्द-ब्रह्म (जिसे परा वाणी कह सकते हैं) ही संसार का उपादान कारण है। शब्द-ब्रह्म शब्दभाव से तो विवृत्त होता ही है। उसके बाद में वह सत् (Existent) अर्थों के रूप में भी विवृत्त होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दब्रह्म से शब्द और अर्थ दोनों की उत्पत्ति होती है, यह पूरा संसार ही शब्दब्रह्म का रूप है। भर्तृहरि की यह मान्यता शैवागम के अनुसार है। उन्होंने कहा है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥ (१।१२०)

कहने का अभिप्राय यह है कि यह जगत् शब्द का परिणाम (परिणत रूप) है। संसार में जो कुछ भी देखते हैं वह शब्दब्रह्म का ही विवृत रूप या छाया है।

(६ क. पद-भेद की संख्या)

ननु नामाख्यातभेदेन पदद्वैविध्यप्रतीतेः कथं चातुर्विध्यमुक्तमिति चेत्—मैवम्। प्रकारान्तरस्य प्रसिद्धत्वात्। तदुक्तं प्रकीर्णके—

७. द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥ इति ।

अब प्रश्न है कि नाम और आख्यात के भेद से दो प्रकार के पदों की प्रतीति होती है, आप चार प्रकार के पद कहाँ से लाते हैं ? ऐसी बात नहीं है, उनके दूसरे भेद भी प्रसिद्ध ही हैं। उसे प्रकीर्ण-काण्ड में कहा है—'जिस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना [पद से पृथक् की जाती है यद्यपि पद में ही प्रकृति-प्रत्यय दोनों हैं], उसी प्रकार वाक्यों से पृथक् करके (अपोद्धृत्य) पदों की कल्पना करके उसे लोगों ने दो, चार या पाँच भेदों में बाँटा है।'(वा०प०३।१।१)

विशेष—पद के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से पद से अलग करके हम प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करते हैं। प्रकृति का अपना अर्थ होता है, प्रत्यय का भी—दोनों का समन्वय करके पदार्थ की प्राप्ति होती है। ठीक उसी तरह वाक्य का अर्थ जानने के लिए वाक्य में विद्यमान पदों की कल्पना वाक्य से अलग करते हैं। तब उनके अर्थों पर विचार करके उन्हें कई भेदों में बाँटते हैं। विभिन्न मत से पद के विभिन्न भेद हैं। पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) कह कर पदों के दो ही भेद किये हैं—सुबन्त (नाम जिसमें उपसर्ग और निपात भी हैं तथा तिङन्त क्रिया)। यास्क तथा दूसरे लोग पद के चार भेद करते हैं—नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात। कुछ लोग इस सूची में कर्मप्रवचनीय को भी जोड़ कर पद के पाँच भेद मानते हैं। कर्मप्रवचनीय एक प्रकार के उपसर्ग ही हैं। उपसर्ग क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं जब कि कर्मप्रवचनीय क्रिया के अनुयोगी संबंध को व्यक्त करता है जैसे, जपमनु प्रावर्षत्। यहाँ जप और वर्षा में लक्ष्य-लक्षण का संबंध है कि जप होते ही पानी बरसा। जप लक्षण है तथा वर्षा लक्ष्य। इस संबंध का प्रतियोगी जप है, वर्षा अनुयोगी या धर्मी है। यह सम्बन्ध इस कर्मप्रवचनीय 'अनु' के द्वारा द्योतित होता है।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय में तीन काण्ड हैं—(१) पदकाण्ड या ब्रह्मकाण्ड (कारिका १५६), जिसमें पद तथा स्फोट के प्रश्नों पर विचार हुआ है। (२) वाक्यकाण्ड (कारिका ४८६) जिसमें वाक्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे काण्ड को (३) प्रकीर्ण-काण्ड कहते हैं क्योंकि इसमें विभिन्न विषयों की चर्चा हुई है (कारिका १२१८)। तृतीय काण्ड १४ समुद्देशों या विषयों (Topics) में विभक्त है जो निम्नलिखित हैं—१. जातिसमुद्देश, २. द्रव्यसमुद्देश, ३. संबन्धसमुद्देश, ४. द्रव्यलक्षणसमुद्देश, ५. गुणसमुद्देश, ६. दिक्समुद्देश, ७. साधनसमुद्देश (अर्थात् कारकों का विश्लेषण), ८. क्रिया-

समुद्देश, ९. कालसमुद्देश, १०. पुरुषसमुद्देश, ११. संख्यासमुद्देश, १२. उपग्रहसमुद्देश, १३. लिंगसमुद्देश, १४. वृत्तिसमुद्देश। चौदहवाँ समुद्देश पूरे प्रकीर्ण काण्ड का आधा (कारिका ६२४) है। वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड पर हरिवृषभ की तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की प्रकाश टीका है, जब कि तृतीय काण्ड पर भूतिराज के पुत्र हेलाराज ने अपनी प्रकीर्ण-प्रकाश नाम की टीका लिखी है। वाक्यपदीय व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए अन्तिम प्रमाण-ग्रन्थ माना जाता है।

कर्मप्रवचनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वमिति हेलाराजो व्याख्यातवान्। कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसंबन्धावच्छेदहेतव इति संबन्धविशेषद्योतनद्वारेण क्रियाविशेषद्योतनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्तीत्यभिसन्धाय पदचातुर्विध्यं भाष्यकारेणोक्तं युक्तमिति विवेक्तव्यम्।

पाँचवें भेद 'कर्मप्रवचनीय' को अलग गिनने से पद के पाँच भेद हो जाते हैं, ऐसी व्याख्या हेलाराज ने [उपर्युक्त कारिका की] की है। किन्तु कर्मप्रवचनीय किसी विशेष क्रिया (जैसे वर्षण) से उत्पन्न संबन्ध को व्याप्त करनेवाली (जैसे लक्ष्य-लक्षण भाव) सीमा के ज्ञापक होते हैं। [वर्षण क्रिया के साथ जप का लक्ष्य-लक्षण-भाव से सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध एक विशेष सीमा में है -इस सीमा या सम्बन्ध को बतलाने वाला 'अनु' कर्मप्रवचनीय है। यही अभिप्राय है।] इस प्रकार ये कर्मप्रवचनीय एक प्रकार का सम्बन्ध ही बतलाते हैं अतः किसी विशेष क्रिया के द्योतक होने के कारण इनका अन्तर्भाव उपसर्गों में ही होता है। [चूँकि उपसर्ग किसी क्रिया के द्योतक होते हैं और कर्मप्रवचनीय भी क्रिया के सम्बन्ध का द्योतन करते हैं अतः उन दोनों को एक भेद में ही मान ले।]

यही विचार कर भाष्यकार ने पद के चार ही भेद कहे हैं जो युक्तियुक्त हैं—ऐसा समझ लेना चाहिए।

(७. स्फोट—नैयायिकों की शंका और उसका समाधान)

ननु भवता स्फोटात्मा नित्यः शब्द इति निजागद्यते। तन्न मृष्यामहे। तत्र प्रमाणाभावादिति केचित्। अत्रोच्यते। प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणम्। गौरित्येकं पदमिति नानावर्णातिरिक्तैकपदावगतेः सर्वजनीनत्वात्। न ह्यसति बाधके पदानुभवः शक्यो

मिथ्येति वक्तुम् । पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः ।

आप लोग बार-बार 'स्फोट के रूप में नित्य शब्द है' ऐसा कहते हैं। हम इसे ठीक नहीं मानते क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं—यह कुछ लोगों (नैयायिकादि) का कहना है। [नैयायिक लोग कहते हैं कि 'घटमानय' इस तरह के वाक्यों के उच्चारण के समय जो घ् अ, ट् आदि वर्ण कण्ठादि स्थानों में वायु के संयोग से उत्पन्न होते हैं, कानों से सुनाई पड़ते हैं और तुरत नष्ट हो जाते हैं—वे ही शब्द हैं, उनके अलावे किसी दूसरी चीज को शब्द नहीं कहते। घट-वस्तु के बोधक भी ये ही हैं। अतः नैयायिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं। वैयाकरणों का कहना है कि यह शब्द नहीं है, किन्तु शब्द को व्यंजित करनेवाली ध्वनि है। इस ध्वनि के द्वारा जो व्यंग्य होता है वही शब्द है, जो घटादि वस्तुओं का बोधक होता है। यह शब्द नित्य है -न उत्पन्न होता है न नष्ट। वाणी की सर्वोत्तम, अन्तरतम अवस्था—परा वाणी—में यह रहता है। इसे ही **स्फोट** कहते हैं। बाह्य ध्वनि या कार्य शब्द केवल इसका व्यंजक है तथा अनर्थक है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार 'घटमानय' इत्यादि ध्वनि का उच्चारण करने से वाचक नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है जिससे अर्थबोध होता है।]

[विरोधियों की] इस उक्ति पर हमारा यह कहना है कि इसे सिद्ध करने के लिए तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। 'गौ' यह एक ही पद है, इसमें अनेक वर्णों [के होते हुए भी उन] के अतिरिक्त एक पद का ही बोध सभी लोग करते हैं। ['गौ' में एकत्व का बोध सभी लोग करते हैं। पर यह एकत्व है कहाँ ? वर्णों में तो नहीं है, क्योंकि वे अनेक हैं। इस एकत्व का आधार कुछ तो अवश्य मानना है जो वर्णसमूह के द्वारा व्यक्त हो। वही स्फोट है। पद की एकता का अनुभव सबों को होता है।] जब तक कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता तब तक पदों की एकता के इस अनुभव को हम मिथ्या नहीं कह सकते।

पदार्थ की प्रतीति (बोध) किसी भी दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती (=एकमात्र उपाय स्फोट-सिद्धान्त ही है), इसलिए भी स्फोट को मान लेना चाहिए।

न च वर्णेभ्य एव तत्प्रत्ययः प्रादुर्भवतीति परीक्षाक्षमम् । विकल्पासहत्वात् । किं वर्णाः समस्ता व्यस्ता वार्थप्रत्ययं

जनयन्ति? नाद्यः। वर्णानां क्षणिकानां समूहासंभवात्। नान्त्यः। व्यस्तवर्णेभ्योऽर्थप्रत्ययासंभवात्। न च व्याससमासाभ्यामन्यः प्रकारः समस्तीति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद्बलादर्थ-प्रतिपत्तिः स स्फोटः। वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्य शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति।

'वर्णों से ही पद के अर्थ की प्रतीति उत्पन्न होती है'—ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है (कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता) क्योंकि निम्न-लिखित दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। ये वर्ण क्या मिलकर के अर्थ की प्रतीति कराते हैं या अलग-अलग होकर? पहला विकल्प ठीक नहीं हो सकता क्योंकि क्षण भर ही ठहरने वाले (नश्वर) वर्णों का समूह होना असम्भव है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं क्योंकि अलग-अलग वर्णों से [पूरे पद के] अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। [व्यस्त वर्णों की वाचकता मानने पर कई समस्यायें उत्पन्न हो जायेंगी। एक-एक वर्ण का उच्चारण करने से एक तो अर्थबोध होता ही नहीं। यदि हो भी तो प्रत्येक वर्ण को सार्थक मानना पड़ेगा और एक ही वर्ण से अर्थ की प्रतीति हो जाने से अन्य वर्ण व्यर्थ हो जायेंगे। एक पद में जितने वर्ण हों उतने अर्थ भी होंगे अतः एक पद एक ही साथ अनेक अर्थों का बोध कराने लगेगा। अन्त में सभी वर्णों को पर्यायवाचक भी मानना पड़ेगा।]

अलग-अलग बोध कराना या मिलकर बोध कराना, इन दोनों विकल्पों के अतिरिक्त और कोई विकल्प हो नहीं सकता। इसलिए वर्णों की वाचकता असिद्ध हो गयी (=वर्ण अर्थबोध नहीं करा सकते), अतः जिसके बल से (कारण) अर्थ का बोध होता है, वही स्फोट है। स्फोट के जानने वाले कहते हैं कि स्फोट नित्य शब्द है, वर्णों से पृथक् है वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त होता है और अर्थ की प्रतीति कराता है। (स्मरणीय है कि ध्वनि अर्थ-प्रतीति नहीं करा सकती। ध्वनि नित्य शब्द को अभिव्यक्त करती है जो अर्थबोध कराने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है।]

अत एव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहुः। तथा चोक्तं भगवता पतञ्जलि-ना महाभाष्ये—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? येनोच्चारितेन

सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति, स शब्दः' (महाभा० पृ० १) इति ।

इसीलिए, 'वर्णों के द्वारा जो स्फुटित या व्यंजित हो वह स्फोट (√स्फुट) है अर्थात् वर्णों से अभिव्यंग्य [शक्ति को स्फोट कहते हैं ।] 'जिससे अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है वह स्फोट अर्थात् अर्थबोधक (शक्ति) है' । इस तरह दोनों रूपों में (वर्णों के द्वारा अभिव्यंग्य तथा अर्थ का बोधक—इन दोनों रूपों में) 'स्फोट' शब्द के अर्थ का निर्वचन लोग करते हैं । भगवान् पतंजलि ने महाभाष्य में ऐसा ही कहा भी है—"अच्छा, यह बतलाइये कि 'गौ' में शब्द कौन-सा है ? जिसका उच्चारण करने से सास्ना (गले का लटकता हुआ मांस), पूँछ, ककुद (पीठ और गले के बीच उठा हुआ मांस), खुर तथा सींग से युक्त [पशुविशेष] का बोध होता है, वही शब्द है ।" (पतञ्जलि, महाभाष्य, पृ० १) । [यहाँ स्पष्ट है कि पतञ्जलि अर्थ का बोध कराने वाले साधन-विशेष को शब्द कहते हैं जो और कुछ नहीं, नित्य शब्द या स्फोट ही है । कैयट ने ऐसी व्याख्या भी की है ।]

विवृतं च कैयटेन—'वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाचकत्वमिच्छन्ति । वर्णानां वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गादित्यादिना तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः' इत्यन्तेन प्रबन्धेन ।

कैयट ने इसका विवरण भी दिया है—'वैयाकरण लोग वर्णों के अतिरिक्त (वर्णों से पृथक् रखकर) पद की वाचकता मानते हैं । वर्णों को वाचक मानने पर [पहला वर्ण तो अर्थबोध करा ही देगा इसलिए] द्वितीय और अन्य वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ ही हो जायगा ।...... उनके अतिरिक्त (पृथक्) नाद या ध्वनि से अभिव्यंग्य 'स्फोट' है जो [पदार्थ का] वाचक है, वाक्यपदीय में उसकी व्यवस्था विस्तारपूर्वक की गई है ।' (देखिए, महाभाष्य, चौखम्बा सं० पृ० ११) ।

(७ क. स्फोट पर अन्य शंका—मीमांसक)

ननु स्फोटस्याप्यर्थप्रत्यायकत्वं न घटते । विकल्पासहत्वात् । किमभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययत्यनभिव्यक्तो वा ? न चरमः । सर्वदार्थप्रत्ययलक्षणकार्योत्पादप्रसङ्गात् । स्फोटस्य

नित्यत्वाभ्युपगमेन निरपेक्षस्य हेतोः सदा सत्त्वेन कार्यस्य विलम्बायोगात् ।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] स्फोट में भी अर्थ की प्रतीति कराने की शक्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि दोनों ही विकल्प इस विषय में असिद्ध हो जाते हैं । क्या स्फोट अभिव्यक्त होकर अर्थ कराता है या बिना अभिव्यक्त ही हुए ? दूसरा पक्ष ठीक नहीं हो सकता । [दूसरे पक्ष का खंडन सरल है अतः पहले उसे ही लेते हैं, जैसे सुई और कड़ाही बनाने के लिए लुहार पहले सुई ही बना लेता है तब कड़ाही बनाता है ।] कारण यह है कि ऐसा मानने पर अर्थबोध रूपी कार्य का उत्पादन सदा ही होता रहेगा क्योंकि स्फोट को नित्य मानते हैं, [अर्थबोध का] वही कारण है जो अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखता— उसकी सत्ता सदा ही रहेगी, इसलिए [अर्थबोध रूपी] कार्य के उत्पादन में विलम्ब की संभावना ही नहीं । [अभिप्राय यह है कि अर्थप्रतीति को कार्य और स्फोट को कारण मानते हैं । कार्य-कारण का संबन्ध सदा रहता है । चूंकि अनभिव्यक्त रूप में ही स्फोट अर्थबोध करायेगा, अतः अभिव्यक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः नित्य स्फोट नित्य रूप से बराबर अर्थबोध ही कराता रहेगा, विराम उसे कहाँ ?]

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षयाऽभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययतीति कक्षीक्रियते, तथाप्यभिव्यञ्जयन्तो वर्णाः किं प्रत्येकमभिव्यञ्जयति संभूय वा ? पक्षद्वयेऽपि वर्णानां वाचकत्वपक्षे भवता ये दोषा भाषितास्त एव स्फोटाभिव्यञ्जकत्वपक्षे व्यावर्तनीयाः । तदुक्तं भट्टाचार्यैर्मीमांसाश्लोकवार्तिके—

८. यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः ।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते ॥ इति ।

[पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि] अब यदि उक्त दोष से बचने के लिए आप (वैयाकरण) लोग यह पक्ष ले लें कि अभिव्यक्त ही होने पर स्फोट अर्थ की प्रतीति कराता है फिर भी [हम विकल्प रखेंगे कि] अभिव्यक्त करने वाले वर्ण क्या एक-एक करके स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं या सब एक साथ मिलकर ? दोनों ही पक्षों में; वर्णों को वाचक मानने पर आप (वैयाकरणों) ने जो-जो दोष आरोपित किये हैं वे दोष ही स्फोट को अभिव्यंजक मानने पर, आप पर ही उलट दिए जायें तो कोई आपत्ति नहीं । [यदि वर्ण एक-एक करके स्फोट की

अभिव्यक्ति करते हैं तो ऐसा देखा नहीं जाता। पुनः यदि एक ही वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाती है तो किसी पद के दूसरे-तीसरे आदि वर्णों का उच्चारण ही क्यों किया जायगा ? इसके अलावे, पद में जितने वर्ण हैं उतने स्फोटों की अभिव्यक्ति एक ही पद से हो जायगी। दूसरा पक्ष (वर्ण मिलकर स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं) भी ठीक नहीं। क्षणिक वर्णों का समूह संभव ही नहीं है—वे इतनी शीघ्रता से नष्ट जो हो जाते हैं। अतः स्फोटवादियों के सिर पर उन्हीं का शस्त्र चला दिया जायगा।]

इसे कुमारिल भट्ट ने भी मीमांसा-श्लोक-वार्तिक में कहा है—'जिसका यह सिद्धान्त है कि स्फोट अवयवों से रहित है तथा वर्णों के ज्ञान से अभिव्यक्त होता है, वह (स्फोटवादी वैयाकरण) भी [अपने ही द्वारा उठाये गये प्रश्नों में] एक प्रश्न से भी निकल नहीं सकता है।' [स्फोटवादी ने अपने विरोधी से जो-जो प्रश्न ऊपर किये हैं उनमें सबके सब अब हम स्फोटवादियों पर ही फेंक देते हैं—एक भी प्रश्न का उत्तर ये दें तो जानें। एक प्रश्न का भी उत्तर इनसे नहीं दिया जा सकता। यदि स्फोट को अवयवयुक्त मानते तो ये कह सकते थे कि एक-एक वर्ण से खण्डशः स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु ये तो स्फोट को अवयवों से रहित भी मानते हैं।]

विभक्त्यन्तेष्वेव वर्णेषु 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा० सू० १।४।१४) इति पाणिनिना, 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' (न्या० सू० २।२।६०) इति गौतमेन च पदसंज्ञाया विहितत्वात्संकेत-ग्रहेणानुग्रहवशाद्वर्णेष्वेव पदबुद्धिर्भविष्यति। तर्हि सर इत्येतस्मिन्पदे यावन्तो वर्णास्तावन्त एव रस इत्यत्रापि। एवं 'वनं नवं' 'नदी दीना' 'रामो मारो' राजा जारेत्यादिष्वर्थ-भेदप्रतीतिर्न स्यादिति चेत्—न। क्रमभेदेन भेदसंभवात्।

[पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि] पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त (वर्णों) को पद माना है (१।४।१४) तथा गौतम ने विभक्ति से अन्त होने वाले वर्णों को पद माना है (२।२।६०)—इस प्रकार दो बड़े-बड़े आचार्य विभक्त्यन्त वर्णों को ही पद संज्ञा देते हैं अतः [वृद्धव्यवहारादि उपायों से] संकेत-ग्रहण करके [इन वर्णों में उत्तरोत्तर] सहायक-संबंध मानकर वर्णों को ही तो पद कहना पड़ेगा। [उक्त दो आचार्यों के सूत्रों से ध्वनित होता है कि वर्ण-समुदाय ही पद है—उसके अतिरिक्त स्फोट नाम का कोई पदार्थ नहीं है। यह प्रश्न

हो सकता है कि वर्ण तो शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं उनका समूह कैसे हो सकता है? परन्तु वृद्धव्यवहार आदि के द्वारा हम वर्णसमुदाय में संकेत (conventional relation) का ग्रहण करेंगे कि अमुक वर्णसमुदाय अमुक वस्तु से सम्बद्ध है। पूरे समुदाय से एक ही अर्थ की प्रतीति होगी। अब इन विनाशी वर्णों में उत्तरोत्तर अनुग्रहभाव होगा—एक वर्ण दूसरे वर्ण की सहायता करता चला जायगा और उस विद्यमान वर्णसमुदाय का एकात्मक अर्थ मान लेंगे। अतः समूह की कल्पना से भी पदबोध हो सकता है।]

[वैयाकरण बीच में छेड़ते हैं कि] तब तो 'सर' इस पद में जितने वर्ण हैं उतने ही 'रस' में भी हैं; इसी तरह, वन और नव, नदी और दीन, राम और मार, राज और जार में भी बराबर-बराबर ही वर्ण हैं तो अर्थभेद की प्रतीति नहीं होगी। [विरोधी कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं, वर्णों के क्रम में भेद होगा तो अर्थ में भी भेद पड़ेगा।

तदुक्तं तौतातितैः—

९. यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपत्तये।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ इति।

तस्माद्यश्चोभयोः समो दोषो न तेनैकश्चोद्यो भवतीति न्यायाद्वर्णानामेव वाचकत्वोपपत्तौ नातिरिक्तस्फोटकल्पनावकल्पत इति चेत्—।

[पूर्वपक्षी अन्त में कहते हैं]—तौतातित अर्थात् कुमारिल का कहना है कि जिन वर्णों की सामर्थ्य (अर्थबोध कराने की शक्ति) अच्छी तरह मालूम हो कि ये अमुक अर्थ की प्रतीति करा सकते हैं, वे वर्ण चाहे जितनी संख्या में हों, जिस किसी प्रकार के हों, वे उसी प्रकार से अर्थ का बोध कराते हैं। [जिस अर्थ का बोध कराने की शक्ति वर्णों में होती है, वे उसी अर्थ का बोध कराते हैं।]

इसलिए 'जब दोनों का दोष एक ही तरह का है तो उस दोष से एक पर बिगड़ना ठीक नहीं है' इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि वर्ण ही वाचक हैं अतः उनसे भिन्न स्फोट की कल्पना करना ठीक नहीं है। [यहाँ मीमांसकों का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।]

विशेष—जब दो व्यक्तियों में दोनों का समान दोष हो, दोनों का परिहार भी एक ही हो, तो वैसे विषय का विचार करते समय एक व्यक्ति को दूसरे पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। इसका यह श्लोक है—

यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

(८. मीमांसकों की शंका का उत्तर—स्फोटसिद्धि)

तदेतत्काशकुशावलम्बनकल्पम् । विकल्पानुपपत्तेः । किं वर्णमात्रं पदप्रत्ययावलम्बनं वर्णसमूहो वा ? नाद्यः । परस्पर-विलक्षणवर्णमालायामभिन्नं निमित्तं पुष्पेषु विना सूत्रं माला-प्रत्ययवदित्येकं पदमिति प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । नापि द्वितीयः । उच्चरितप्रध्वस्तानां वर्णानां समूहभावासंभवात् ।

[वैयाकरण लोग उत्तर देते हैं कि नदी में डूबते हुए व्यक्ति] जैसे बहते हुए घास-फूस का सहारा लेते हैं वैसे ही आपका यह तर्क है। इन दोनों की विकल्पों की असिद्धि हो जाती है। क्या अकेला वर्ण पद की प्रतीति कराता है या वर्णों का समूह ? पहला विकल्प ठीक नहीं क्योंकि जैसे फूलों में बिना सूते के माला की प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार एक दूसरे से विलक्षण (Peculiar) वर्णों की माला होने पर भी अनेक वर्णों में अनुस्यूत होनेवाले किसी एक अभिन्न निमित्त के बिना 'यह एक पद है' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उच्चारण किये जाने के बाद नष्ट हो जानेवाले वर्णों का समूह कभी हो ही नहीं सकता।

तत्र हि समूहव्यपदेशो ये पदार्था एकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थि-ततया बहवोऽनुभूयन्ते । यथैकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थिततयानुभूय-मानेषु धवखदिरपलाशादिषु समूहव्यपदेशो यथा वा गजनर-तुरगादिषु । न च ते वर्णास्तथानुभूयन्ते । उत्पन्नप्रध्वस्तत्वात् । अभिव्यक्तिपक्षेऽपि क्रमेणैवाभिव्यक्तिः । समूहासंभवात् ।

हम 'समूह' उसे ही कहते हैं जहाँ कुछ पदार्थ एक ही स्थान में साथ-साथ रहने के कारण अनेक संख्या में अनुभूत हों। जैसे एक ही स्थान में साथ-साथ रहने के कारण अनुभूत होनेवाले धव, खदिर (खैर), पलाश आदि वृक्षों में 'समूह' का प्रयोग होता है अथवा जैसे गज, मनुष्य और अश्व आदि [जीवों के समूह का प्रयोग करते हैं।] वर्णों का अनुभव तो उस रूप में होता नहीं। कारण यह है कि ये उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं [अतः एक स्थान में साथ-साथ रहने का अवसर इन्हें कहाँ से मिलेगा कि वर्णों का समूह होगा ?]

यदि हमारे समान [स्फोट की] अभिव्यक्ति का पक्ष भी लिया जाय तो वहाँ भी अभिव्यक्ति [एक ही साथ नहीं हो जाती] क्रम से ही होती है। कारण यह है कि किसी भी दशा में क्षणिक वर्णों का समूह होना संभव नहीं है।

नापि वर्णेषु काल्पनिकः समूहः कल्पनीयः। परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। एकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धौ तदुपाधिना वर्णेषु पदत्वप्रतीतिस्तत्सिद्धावेकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धिरिति । तस्माद्वर्णानां वाचकत्वासंभवात्स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

आप (पूर्वपक्षी) यह भी नहीं कह सकते कि वर्णों में जो समूह है वह काल्पनिक या कृत्रिम है। क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। एक तरफ जब आप यह सिद्ध करेंगे कि [वर्णों के कृत्रिम समूह से] एकात्मक अर्थ की प्रतीति होती है तभी उस उपाधि (शर्त) के आधार पर वर्णों में पदत्व का बोध होता है। और दूसरी ओर वर्णों में पदत्व की सिद्धि करने पर ही यह सिद्ध होगा कि उससे अर्थ का बोध होता है [पदत्वप्रतीति और अर्थबोध—दोनों मे कौन पहले होगा ? एकार्थबोध तथा पदत्व वर्णसमूह में नहीं है, किन्तु स्फोट में ही है। यदि स्फोट नहीं मानते तो इन दोनों को वर्णों में ही बैठाना होगा—इससे अन्योन्याश्रय तो होगा ही।] अतः वर्ण वाचक नहीं हो सकते, तो स्फोट को मानना ही चाहिए।

(८ क. स्फोट पर अन्य आपत्तियाँ और समाधान)

ननु स्फोटव्यञ्जकतापक्षेऽपि प्रागुक्तविकल्पप्रसरेण घट्टकुटीप्रभातायितमिति चेत्—तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। वैषम्यसंभवात्। तथा हि—अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति। उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतरं स्फुटतमम्। यथा स्वाध्यायः सकृत्पठ्यमानो नावधार्यते। अभ्यासेन तु स्फुटावसायः। यथा वा रजतत्वं प्रथमप्रतीतौ स्फुटं न चकास्ति। चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते।

अब ये (पूर्वपक्षी) लोग फिर आपत्ति कर सकते हैं कि यदि स्फोट का [वर्णों के द्वारा] अभिव्यंग्य होना मान भी लें फिर भी तो पहले कहे गये (पूर्वपक्षी के द्वारा आरोपित, देखिये—७ क. का आरंभ) विकल्पों के प्रसार के कारण [बचना चाहते हुए भी आप उनके ही चक्र में पड़ जायेंगे जैसे कोई

गाड़ीवान रात में चुंगी देने के डर से दूसरे रास्ते से रातभर चलता रहे और भूलता-भटकता] प्रातःकाल चुंगीघर के ही सामने पहुँच जाय [और उसे चुंगी (toll-tax) चुकानी पड़े ।]

हमारा कहना है कि यह सब करके आप अपने मन में पुए पकाते रहें (मन को संतोष देते रहें)। [इससे कुछ होने का नहीं] क्योंकि दोनों में बहुत बड़ी विषमता है। देखिये—अभिव्यंजक होने पर भी प्रथम वर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति अस्पष्ट रूप में ही करता है। [जैसे-जैसे वर्ण आते हैं वैसे-वैसे वे] अपने उत्तरोत्तर अभिव्यंजक क्रम से स्पष्ट, स्पष्टतर और सबसे अधिक स्पष्ट रूप से अंत में अभिव्यक्त कर देते हैं। इसलिए वर्ण चाहे स्पष्ट रूप से स्फोट की अभिव्यक्ति करे या अस्पष्ट रूप से, वह अभिव्यंजक है।]

जिस प्रकार स्वाध्याय (वेद) एक बार पढ़ने से समझ में नहीं आता किन्तु अभ्यास करने से स्फुट होने लगता है। अथवा जिस प्रकार चाँदी प्रथम प्रतीति में (पहले-पहल देखने से) स्पष्ट नहीं होती, किन्तु अंत में वही (चाँदी) चित्त में अपने वास्तविक रूप में अभिव्यक्त हो जाती है।

१०. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥

(वाक्यप० १।८४)

इति प्रामाणिकोक्तेः। तस्मादस्माच्छब्दादर्थं प्रतिपद्यामह इति व्यवहारवशाद्वर्णानामर्थवाचकत्वानुपपत्तेः। प्रथमे काण्डे तत्रभवद्भिर्भर्तृहरिभिरभिहितत्वान्निरवयवमर्थप्रत्यायकं शब्दतत्त्वं स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यमिति। एतत्सर्वं परमार्थसंविल्लक्षणसत्ता जातिरेव सर्वेषां शब्दानामर्थ इति प्रतिपादनपरे जातिसमुद्देशे प्रतिपादितम्।

इसके लिए प्रामाणिक कथन भी है—'अन्तिम ध्वनि (वर्ण) के साथ नादों (पहले से उच्चारित वर्णों की ध्वनियों) के द्वारा उस बुद्धि में जिसमें बीज अर्थात् अभिव्यक्ति के अनुकूल संस्कार की स्थापना हो चुकी है तथा जो बुद्धि [पहले के सभी संस्कारों की] आवृत्ति के कारण परिपक्व अर्थात् योग्यता-संपन्न भी हो चुकी है, किसी शब्द का निर्धारण (निश्चय) होता है' (वाक्यपदीय १।८४)। [बुद्धि में प्रत्येक शब्द का एक संस्कार रहता है जो शक्तिग्रह और आवृत्ति के कारण स्थिर हो जाता है, तभी बुद्धि में योग्यता

होती है। जब किसी पद या वाक्य का श्रवण करते हैं तब उस पद या वाक्य के प्रथम वर्ण से ही उक्त संस्कार जागने लगता है, या स्फोट स्पष्ट होने लगता है। अन्तिम वर्ण उच्चरित होते-होते सारे-के-सारे संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं तथा 'अमुक शब्द है' यह ज्ञान होता है। यही आशय है।]*

इसलिए, 'इस शब्द से हम अर्थ की प्रतीति करते हैं' ऐसा व्यवहार होने के कारण यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण अर्थ के वाचक हैं, [प्रत्युत शब्द अर्थ के वाचक हो सकते हैं।] वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में आदरणीय भर्तृहरि ने इसका वर्णन किया है अतः अवयवों से रहित, अर्थबोधक शब्दतत्त्व, जिसका नाम स्फोट है, हमें स्वीकार करना चाहिए। परमार्थ (परम तत्त्व, ब्रह्म) के पूर्णज्ञान (संवित्) रूपी लक्षण से युक्त जो [सभी पदार्थों में विद्यमान] सत्ता है, वह [घट, पट आदि संबन्धियों के भेद से घटत्व, पटत्व आदि की] जाति के रूप में है तथा सभी शब्दों (घट, पटादि) का अर्थ भी वही (सत्ताजाति) है। इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाले जाति-समुद्देश (वाक्यपदीय के तृतीय कांड का एक खण्ड) नामक खण्ड में भर्तृहरि ने इसे स्पष्ट किया है। [अब सत्ता को अर्थ मानने वाले पक्ष का खंडन पूर्वपक्षी करेंगे।]

(९. सत्ता ही शब्दों का अर्थ है—पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष)

यदि सत्तैव सर्वेषां शब्दानामर्थस्तर्हि सर्वेषां शब्दानां पर्यायता स्यात्। तथा च क्वचिदपि युगपत्त्रिचतुरपदप्रयोगायोग इति महच्चातुर्यमायुष्मतः। तदुक्तम्—

११. पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते।
पर्यायेणैव ते यस्माद्वदन्त्यर्थं न संहताः॥ इति।

तस्मादयं पक्षो न क्षोदक्षम इति चेत्—।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] यदि सभी शब्दों का अर्थ सत्ता (परम सत्ता, परमार्थ का ज्ञान) ही है तब तो सभी शब्द एक दूसरे के पर्याय हो जायँगे। यही नहीं, आपकी चतुरता धन्य है! आपके मत में रहने से तो कहीं भी एक साथ तीन-चार पदों का प्रयोग होगा ही नहीं। [जब सभी शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं तब तो एक साथ कई पर्यायों का प्रयोग नहीं होगा, अतः कई शब्दों को

* विशेष ज्ञान के लिए पं० सूर्यनारायण शुक्ल की व्याख्या से युक्त वाक्यपदीय देखें। पृ० ९७–९९।

एक बार में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य की भाषा ही निरर्थक हो जायगी। धन्य है आपका सिद्धान्त !] इसे कहा भी है—

'पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग एक साथ नहीं करना चाहिए क्योंकि ये शब्द एक-एक करके अर्थ का बोध कराते हैं, एक साथ मिलकर नहीं।' [चंद्र, इंदु, शशि आदि शब्द पृथक् वाक्यों में अपने क्रम से अर्थ-बोध करा सकते हैं किन्तु यदि एक ही साथ इनका प्रयोग कर दें तो वाक्य नहीं बन सकता—साहित्य-शास्त्र में तो ऐसा करना पुनरुक्ति-दोष माना जायगा।] इसलिए यह पक्ष इतना भी बलयुक्त नहीं कि हमारे खंडन को सँभाल सके।

तदेतद्गगनरोमन्थकल्पम्। नीललोहितपीताद्युपरञ्जक-द्रव्यभेदेन स्फटिकमणेरिव संबन्धिभेदात्सत्तायास्तदात्मना भेदेन प्रतिपत्तिसिद्धौ, गोसत्तादिरूपगोत्वादिभेदनिबन्धनव्यवहारवैलक्षण्योपपत्तेः। तथा चाप्तवाक्यम्—

१२. स्फटिकं विमलं द्रव्यं यथा युक्तं पृथक्पृथक्।
नीललोहितपीताद्यैस्तद्वर्णमुपलभ्यते ॥ इति।

[उक्त प्रश्न का उत्तर है कि] यह तो आकाश (शून्य) का रोमन्थ (जुगाली, पागुर) करने के समान है। [पशु चबाये हुए पदार्थ को फिर से मुँह में लाकर चबाते हैं वही रोमन्थ है। रोमन्थ करने के लिए कुछ ठोस पदार्थ होना चाहिए। यों ही आकाश का रोमन्थ नहीं हो सकता। उसी तरह आपलोगों का यह आक्षेप भी बिल्कुल असंभव है।] जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि में उपरंजक (रँगनेवाले) द्रव्यों के भेद के कारण नीले, लाल, पीले तथा अन्य रंगों की प्रतीति होती है उसी तरह संबन्धी के भेद के कारण, सत्ता की प्रतीति, उससे संबद्ध वस्तु के स्वरूप-भेद के रूप में होती है। इस तरह 'गो' की सत्ता (वैयक्तिक सत्ता) के रूप में गोत्व आदि [जाति की जो सत्ता है उसी से विभिन्न वस्तुओं के] भेद पर आधारित व्यवहार की विलक्षणता मालूम पड़ती है। [अभिप्राय यह है कि परमसत्ता ब्रह्म ही शब्दों का अर्थ है पर शब्दों में अर्थ को लेकर भेद क्यों है ? चूँकि सत्ता के संबन्धी घट, पट आदि द्रव्यों की घट-सत्ता, पटसत्ता आदि है और इन वैयक्तिक सत्ताओं के रूप में घटत्वजाति, पटत्वजाति आदि जातियों की सत्ता है इसलिए परमसत्ता ब्रह्म के विवर्तरूप इन सत्ताओं के चलते शब्दार्थ में भेद पड़ता है। स्फटिक पर नाना प्रकार के रंग पड़ते हैं। उसी तरह संबन्धियों के भेद से सत्ता पर अनेक अर्थों का आरोपण होता है।]

ऐसा ही आप्त (प्रामाणिक) वाक्य है—'जैसे स्फटिक स्वच्छ द्रव्य ही है, पृथक्-पृथक् नीले, लाल, पीले रंगों के पड़ने से उसके वर्ण को प्राप्त कर लेता है, [वैसे ही सत्ता भी विभिन्न संबन्धियों के भेद से विभिन्न अर्थों को धारण कर लेती है ।]'

तथा हरिणाप्युक्तम्—

१३. संबन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥
(वाक्य० ३।१।३३) ।

१४. तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥
(वाक्यप० ३।१।३४) इति ।

वही भर्तृहरि ने भी कहा है—'सम्बन्धी (घट, पट आदि) के भेद से सत्ता (परम सत्ता) ही गो-आदि के रूप में भिन्न होकर जाति कहलाती है उसी में सभी शब्दों की व्यवस्था होती है ॥ १३ ॥

उसी जाति को प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ भी कहते हैं, वह जाति (सभी पदार्थों में स्थित संविद्‌रूपी सत्ता) नित्य है, वही महान् आत्मा (ब्रह्म) है, त्व, तल् आदि भाव-प्रत्यय उसी का पोषण करते हैं ॥ १४ ॥'

विशेष—महासत्ता नाम की एक ही जाति है, वही ब्रह्म है, गोत्व, अश्वत्वादि उसी के विवर्त हैं । आश्रयरूपी सम्बन्धी का भेद पड़ने से यह महासत्ता ही गोत्व आदि जाति के रूप में आती है । अभाव को भी महासत्ता से संबद्ध मानकर पदार्थ कहते हैं अतः महासत्ता को प्रादिपदिकार्थ के रूप में भी गृहीत करते हैं । धातु भी क्रियारूपी व्यक्तियों में समवेत होने वाली महासत्ता की अभिव्यक्ति करता है । ऐसी अवस्था में महासत्ता में क्रियारूपी उपाधियों के कारण अनेकता आती है । (देखिये, वाक्यपदीय का संबद्ध स्थल) । माधवाचार्य इसकी व्याख्या आगे करते हैं ।

आश्रयभूतैः संबन्धिभिर्भिद्यमाना कल्पितभेदा गवाश्वादिषु सत्तैव महासामान्यमेव जातिः । गोत्वादिकमपरं सामान्यं परमार्थतस्ततो भिन्नं न भवति । गोसत्तैव गोत्वं, नापरमन्वयि प्रतिभासते । एवमश्वसत्ताऽश्वत्वमित्यादि वाच्यम् । एवं च

तस्यामेव गवादिभेदभिन्नायां सत्तायां जातौ सर्वे गोशब्दादयो वाचकत्वेन व्यवस्थिताः ।

आधार के रूप में जो संबन्धी हैं उनके द्वारा भेद किये जाने पर, जो भेद वस्तुतः कल्पित है वास्तविक नहीं, गो-अश्व आदि में रहनेवाली सत्ता ही महा-सामान्य (Summum genus) या जाति है। गोत्व आदि जो अपर (नीचे के) सामान्य हैं, वास्तव में उस (महासामान्य) से भिन्न नहीं हैं। गो की सत्ता (सभी गो-व्यक्तियों में अनुस्यूत सत्ता) ही गोत्व है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा संबन्धी प्रतिभासित नहीं होता। इसी तरह अश्व की सत्ता ही अश्वत्व है, दूसरा कुछ नहीं—ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार गो आदि (आधार) के भेद के कारण भिन्न प्रतीत होने वाली उसी सत्ता अर्थात् जाति में गो आदि सभी शब्द वाचक से रूप में व्यवस्थित हैं। [रामानुज-दर्शन मे भी सभी शब्दों का परमात्मा का ही वाचक माना गया है देखिये—रा० द० अनुच्छेद १२, पृ० २०६।]

प्रातिपदिकार्थश्च सत्तेति प्रसिद्धम्। भाववचनो धातुरिति पक्षे भावः सत्तैवेति धात्वर्थः सत्ता भवत्येव। क्रियावचनो धातुरिति पक्षेऽपि 'जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम्' इति क्रियासमुद्देशे (वा० प० ३।८) क्रियाया जातिरूपत्व-प्रतिपादनाद्धात्वर्थः सत्ता भवत्येव।

इस प्रकार प्रातिपदिकार्थ को सत्ता भी कहते हैं यह तो प्रसिद्ध ही है। [अब धात्वर्थ को सत्ता कैसे कहते हैं, यह देखें] 'धातु वह है जो भाव का वाचक हो' यदि यह लक्षण मानते हैं तब तो भाव के सत्ता होने के कारण धात्वर्थ को सत्ता कहेंगे ही। यदि धातु का दूसरा लक्षण देते हैं कि क्रिया का वाचक धातु है तब तो 'कुछ लोग अनेक व्यक्तियों (Individuals) में विद्यमान रहनेवाली क्रिया को जाति कहते हैं' इस प्रकार भर्तृहरि ने जो वाक्यपदीय के क्रिया-समुद्देश (३।८) में क्रिया को जाति का रूप माना है उसी से सिद्ध होता है कि धात्वर्थ भी सत्ता है। [सभी पाचक-व्यक्तियों में अवस्थित जो पाचकत्व-जाति है वही पचन-क्रिया है, इस प्रकार वह भी जाति या सत्ता है ही।]

'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा० सू० ५।१।११९) इति भावार्थे त्वतलादीनां विधानात्सत्तावाचित्वं युक्तम्। सा च

सत्ता उदयव्ययवैधुर्यान्नित्या। सर्वस्य प्रपञ्चस्य तद्विवर्ततया देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छेदराहित्यात्सा सत्ता महानात्मेति व्यपदिश्यत इति कारिकाद्वयार्थः।

'किसी पदार्थ का भाव—इस अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं' (पा० सू० ५।१।११९) इस सूत्र के द्वारा भाव के अर्थ में होने वाले त्व, तल् और अन्य प्रत्ययों का भी विधान करने से, ये प्रत्यय सत्तावाचक हैं, ऐसा कहना युक्तिसंगत है। उत्पत्ति और विनाश से रहित होने के कारण यह सत्ता नित्य है। यह सारा प्रपंच (संसार, उसके पदार्थ) उस सत्ता के ही विवर्त (प्रतिभासित रूप) हैं, वह सत्ता देश के परिच्छेद से रहित है (स्थान की सीमा में नहीं बाँधी जा सकती—सर्वत्र होने के कारण वह व्यापक है), काल की सीमा भी उसमें नहीं (क्योंकि नित्य है) तथा वस्तु का बंधन भी उस पर नहीं है [कि यह सत्ता किसी एक ही वस्तु में है—यह तो सभी वस्तुओं का आधार है क्योंकि वस्तुओं और सत्ता में अभेद-सम्बन्ध है], इसलिए इस सत्ता को 'महान् आत्मा' ऐसा कह कर पुकारते हैं। [यह प्रपञ्च महान् या अनादि है, सत्ता में ही अवभासित होता है अतः तीन प्रकार के परिच्छेदों (limitations) से रहित होने के कारण 'ब्रह्म' के रूप में ही है।] यही दोनों कारिकाओं (वा० प० ३.१।३३-३४) का अर्थ है।

विशेष—स्मरणीय है कि माधवाचार्य वाक्यपदीय को पाणिनि-दर्शन का आधारग्रन्थ मानते हैं क्योंकि प्रमाण देने में या दार्शनिक तथ्यों को समझाने में वे बार-बार उसी का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः भर्तृहरि ने (६६० ई०) महाभाष्य में विशृंखलित दार्शनिक विचारधाराओं को संकलित करके पाणिनि-व्याकरण को एक दर्शन का रूप दे दिया। इनका वाक्यपदीय ही भट्टोजिदीक्षित (१५७८ ई०) की कृति—वैयाकरणसिद्धान्तकारिका—का उपजीव्य था। दीक्षित की उक्त कृति पर कोण्डभट्ट (१६४०) ने वैयाकरण-भूषण नाम की टीका लिखी। नागेश भट्ट (१७१४) ने व्याकरण के अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त पाणिनि-दर्शन पर अपनी मंजूषायें (बृहत् , लघु और परमलघु) प्रस्तुत कीं। इन सबोंने प्रायः निम्नलिखित विषयों पर विचार प्रकट किये थे—स्फोट, शक्ति, वाक्यार्थ, धात्वर्थ, लकारार्थ, कारक, प्रातिपदिकार्थ, समासादि की वृत्तियाँ आदि। कुछ वैयाकरणों तथा नैयायिकों ने भी इनमें एकाध विषय को लेकर अपने स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे थे। यह पाणिनिदर्शन की रूपरेखा थी। माधवाचार्य ने सभी विषयों पर 'दर्शन' में विचार नहीं किया है। दुःख है कि अभी तक ये सभी विचार दूसरी भाषाओं के पाठकों तक नहीं पहुँचे। बंगला

में एक बहुत ही प्रौढ ग्रन्थ 'व्याकरणदर्शनेर इतिहास' (प्रथम खण्ड) श्रीगुरुपद हालदार ने लिखा है जिसमें व्याकरण के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों पक्षों पर सुलझे और विस्तृत विचार दिये गये हैं। अंगरेजी में प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती का Philosophy of Grammar (व्याकरण-दर्शन) पीएच्० डी० की थीसिस है जिसमें कुछ प्रश्नों का सामान्य विश्लेषण किया गया है। डा० कपिलदेव द्विवेदी की थीसिस 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' भी इस दिशा का स्तुत्य प्रयास है, पर ये सभी ग्रन्थ सामान्य दृष्टिकोण से—व्याकरण को दर्शन मानकर—नहीं लिखे गये हैं।

(१०. द्रव्य को पदार्थ माननेवालों का विचार)

द्रव्यपदार्थवादिनोऽपि नये संविल्लक्षणं तत्त्वमेव सर्वशब्दार्थ इति सम्बन्धसमुद्देशे समर्थितम्—

१५. सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते ।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते ॥

(वा० प० ३।२।२)

[ऊपर जाति को पदार्थ मानने वालों का विचार दिया गया है कि जाति सत्ता से भिन्न नहीं है, इसलिए परमार्थ-ज्ञान के रूप में सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है। अब व्यक्ति अर्थात् द्रव्य को पदार्थ मानने वाले लोगों के मत से भी अर्थ वही है, यह कहते हैं—] द्रव्य (= घटादि व्यक्ति) को पदार्थ मानने वालों के सिद्धान्त के अनुसार भी सभी शब्दों का अर्थ वह तत्त्व (सत्ता नामक) ही है जो संवित् अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान से लक्षित होता है। [घटादि पदार्थों के व्यक्ति (Individual) रूप को द्रव्य कहते हैं। वृद्ध के व्यवहार से जब शक्तिग्रह होता है तब 'गाय लाओ, घोड़े को बाँध दो' आदि वाक्यों के द्वारा, विभिन्न क्रियाओं के विषय के रूप में आनेवाले व्यक्ति-रूपों के ही दर्शन होते हैं, जाति के नहीं। अतः इन लोगों के अनुसार जाति से विशिष्ट व्यक्ति (द्रव्य) ही शब्द का अर्थ है।]

उक्त तथ्य का समर्थन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के संबन्धसमुद्देश (३।२।२) में किया है—'जिस प्रकार सत्य वस्तु का निश्चय उसी के आकार से युक्त असत्य वस्तुओं के द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार असत्य (द्रव्यात्मक) उपाधियों के द्वारा शब्द भी सत्य का ही निर्देश करते हैं।' [जैसे किसी व्यक्ति ने वास्तविक सिंह नहीं देखा हो, उसे सिंह का आकार-प्रकार समझाने के लिये सिंह का चित्र या मूर्ति दिखलाते हैं। यद्यपि चित्र या मूर्ति का सिंह सत्य नहीं, असत्य ही है, परन्तु

उसी से सच्चे सिंह का निश्चय कर लेते हैं कि वह ऐसा ही होता है। उसी प्रकार ये द्रव्य केवल उपाधियाँ हैं, पदार्थ-बोध के सहायक हैं तथा असत्य हैं किन्तु इन्हीं द्रव्यों के द्वारा शब्द अन्त में हमें सत्य तक—अर्थात् महासत्ता ही सब शब्दों का अर्थ है वहाँ तक—पहुँचा देना है।]

विशेष—भर्तृहरि ने ठीक ऐसी ही भावना इस श्लोक में भी की है—

उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

अर्थात् व्याकरणशास्त्र वास्तव में उपाय (साधन) है जैसे सीखने वाले बालकों के लिए उपलालन (लाड़-प्यार) का प्रयोग होता है। इस प्रकार असत्य मार्ग से होकर कुछ दिनों के बाद बालक सत्य मार्ग पर पहुँच जाता है। वह समझ लेता है कि उपलालन एक बहाना है, सत्य तो अध्ययन है। (वाक्य० २।२४०)।

१६. अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा।
गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते॥

भाष्यकारेणापि 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' इत्येतद्वार्तिकव्याख्यानावसरे द्रव्यं हि नित्यमित्यनेन ग्रन्थेनासत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यं सर्वशब्दार्थ इति निरूपितम्।

"अध्रुव या अस्थायी निमित्त के द्वारा 'यह देवदत्त का घर है' ऐसा ग्रहण होता है, परन्तु 'गृह' शब्द से शुद्ध-गृह का ही बोध होता है (निमित्तयुक्त गृह का नहीं)।" [अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति के द्वारा देवदत्त का घर पूछने पर दूसरा कहता है कि कौए वाला घर राम का है। यद्यपि कौआ घर पर अस्थिर ही है, परन्तु उस निमित्त (कारण, संकेत) से देवदत्त के घर का पता लग जाता है। किन्तु गृह शब्द से काकरहित गृह का ही बोध होता है -जो लक्ष्य है। उसी तरह गो, घट आदि शब्दों से व्यक्ति (गोव्यक्ति, घटव्यक्ति) को आगे रखकर उसी के माध्यम से इन व्यक्तियों (निमित्तों) से रहित 'सत्ता' पर पहुँचते हैं जो सत्य तत्त्व है। किसी भी दशा में शब्द सत्ता के ही बोधक हैं।]

'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' (शब्द, अर्थ तथा उनका सम्बन्ध सिद्ध है)—इस वार्तिक (सं० १) के व्याख्यान के समय भाष्यकार ने 'द्रव्य चूँकि नित्य है' यह कहते हुए निरूपित किया है कि असत्य उपाधियों से व्याप्त ब्रह्मतत्त्व, जो द्रव्य शब्द के द्वारा अभिहित होता है, सभी शब्दों का अर्थ है। [जब आशंका की जाती है कि क्या पाणिनि ने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की सृष्टि की है या केवल स्मरण किया है तब उत्तर में उक्त वार्तिक रखा जाता है। सिद्ध =

नित्य। शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है उनके ज्ञापन के लिए ही पाणिनि प्रवृत्त हुए हैं। अर्थ के विषय में पक्ष हो सकते हैं—जाति अर्थ है या व्यक्ति? दोनों पक्षों में अर्थ नित्य ही रहता है। जाति को पदार्थ मानने पर तो जाति सत्ता है, इसलिए वह नित्य है ही। सत्ता के अतिरिक्त जाति को अलग माननेवाले (नैयायिकादि) भी जाति को नित्य ही मानते हैं। यदि द्रव्य को पदार्थ मानें तो पतंजलि ने भाष्य (पृ० ७) में कहा है—'द्रव्यं हि नित्यम्'। अब यदि द्रव्य से गो, घट आदि पार्थिव द्रव्य का अर्थ लेंगे तब तो ये अनित्य हैं अतः पतंजलि की बात झूठी हो जायगी। इसलिए कैयट ने कहा है कि असत्य उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही यहाँ 'द्रव्य' शब्द से समझना चाहिए। जाति, व्यक्ति दोनों ही पक्षों में परमार्थ-संवित् से लक्षित ब्रह्म की सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है। उक्त वार्तिक से मालूम होता है कि अर्थ से युक्त शब्द भी नित्य ही है। अतः स्फोट के रूप में जो नित्य शब्द है वही वाचक है, वर्णों के रूप में रहने वाली अनित्य ध्वनि नहीं। जैसा कि पहले कह चुके हैं ध्वनि केवल व्यंजक है जो स्फोट को अभिव्यक्त करती है—वाचकता तो स्फोट शब्द में ही है। अतः स्फोट सिद्ध हो गया।]

(११. जाति और व्यक्ति को पदार्थ माननेवालों के विचार)

जातिशब्दार्थवाचिनो वाजप्यायनस्य मते गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतजातिमभिदधति। तस्यामवगाह्यमानायां तत्संबन्धाद् द्रव्यमवगम्यते। शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते। गुणे तत्संबन्धात्प्रत्ययः। द्रव्ये सम्बन्धिसम्बन्धात्।

'जाति को ही शब्दार्थ माननेवाले वाजप्यायन के अनुसार, 'गो' आदि शब्द भिन्न-भिन्न द्रव्यों में (संज्ञाओं या व्यक्तियों में) समवेत **जाति** का ही अभिधान करते हैं। जाति में अवगाहन करने के बाद (= जाति की प्रतीति होने पर) उसके सम्बन्ध से **द्रव्य** का ज्ञान होता है। शुक्ल आदि शब्द **गुण** से समवेत जाति का ही अभिधान करते हैं। उसके साथ सम्बन्ध होने से गुण की प्रतीति होती है। द्रव्य की प्रतीति तो [उस प्रकार की जाति के] सम्बन्धी गुण के सम्बन्ध से होती है।

विशेष—वाजप्यायन जाति को पदार्थ मानते हैं, व्याडि व्यक्ति को। पाणिनि के मत से दोनों ही पदार्थ हैं। इन पक्षों का वर्णन भी यथास्थान प्राप्त होगा।

शब्दों के चार भेद होते हैं—जाति, गुण, संज्ञा और क्रिया। ये भेद प्रवृत्ति-निमित्त (शब्दों के व्यवहार के कारण) में भेद पड़ने के कारण होते हैं। जो शब्द जाति के व्यवहार का कारण हो वह जाति-शब्द है, आदि-आदि। इनके उदाहरण 'गौः, शुक्लः, डित्थः तथा चलः' हैं। एक ही व्यक्ति 'गो' पर ये चारों शब्द प्रयुक्त होते हैं। उस व्यक्ति (Individual) गो में गोत्व **जाति** जानकर 'गौः' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसी गो-व्यक्ति में शुक्ल **गुण** को जानकर 'शुक्लः' शब्द का प्रयोग (प्रवृत्ति) करते हैं। उसी में चलन-**क्रिया** देखकर 'चलः' शब्द की प्रवृत्ति होती है और उसी व्यक्ति की 'डित्थ' **संज्ञा** (Name) देख कर 'डित्थः' शब्द की प्रवृत्ति भी होती है।

अब इस पर अनेक मत होंगे। प्रवृत्ति का निमित्त जात्यादि हैं और वे ही उन-उन शब्दों के वाच्य अर्थ हैं। व्यक्ति उसी पर आश्रित है अतः उसकी प्रतीति आक्षेप (Projection) आदि साधनों से ही होती है। एक यह मत है जिसके अनुयायी वाजप्यायन हैं किन्तु वे यह मानते हैं कि चारों प्रवृत्ति के निमित्त नहीं हैं किन्तु सभी शब्द जाति के रूप में ही हैं। दूसरा वह मत है जिसमें कहा जाता है कि प्रवृत्तिनिमित्त अनेक व्यक्तियों (individuals) में अनुगमन करता है अतः केवल उनका उपलक्षण (संकेतमात्र) है, व्यक्ति ही वाच्यार्थ है। तीसरे मत में प्रवृत्ति-निमित्त से विशिष्ट व्यक्ति को वाच्यार्थ मानते हैं।

वाजप्यायन के मत का विश्लेषण करें—अर्थ केवल जाति ही है। अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत (inherent नित्य रूप से संबद्ध) गोत्वजाति ही 'गो' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। वह (जाति) ही उसका वाच्यार्थ है। घटादि में वर्तमान जो शुक्ल गुण है उसमें भी शुक्लत्वजाति है जो 'शुक्ल' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। वह शुक्लत्व (जाति) ही 'शुक्ल' शब्द का वाच्यार्थ है। 'शुक्ल' शब्द से शुक्ल-गुण की प्रतीति उसी जाति के संबन्ध से होती है। शुक्ल गुण से विशिष्ट घटादि द्रव्य की प्रतीति (= उजले घड़े का ज्ञान) 'शुक्ल' शब्द से होती है अर्थात् 'शुक्लत्व जाति' के सम्बन्धी 'शुक्ल' गुण के सम्बन्ध से होती है (द्रव्ये सम्बन्धिसंबन्धात्)।

उसी प्रकार अनेक 'चलन' क्रियाओं में विद्यमान चलनत्व जाति 'चल' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है और वह जाति ही उसका वाच्यार्थ है। 'चल' शब्द से चलन क्रिया की प्रतीति उपर्युक्त (चलनत्व) जाति के संबंध से ही होती है। क्रिया के आधार के रूप में देवदत्त आदि (देवदत्तः चलति—वाक्य में) का बोध उस जाति की सम्बन्धी क्रिया के संबन्ध से ही होता है। 'डित्थ' नाम का

पशु यद्यपि एक ही है परन्तु शैशव, यौवन आदि अवस्थाओं के भेद से उस प्रकार के अनेक व्यक्तियों में विद्यमान डित्थत्व जाति ही 'डित्थ' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, वही उसका वाच्यार्थ है। व्यक्ति का बोध डित्थत्व के आश्रय या आधार के रूप में होता है। इस प्रकार वाजप्यायन के मत से जाति ही वाच्यार्थ है।

संज्ञाशब्दानामुत्पत्तिप्रभृत्या विनाशाच्छैशवकौमारयौवनाद्यवस्थादिभेदेऽपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययबलात्सिद्धा देवदत्तत्वादिजातिरभ्युपगन्तव्या। क्रियास्वपि जातिरालक्ष्यते। सैव धातुवाच्या। पचतीत्यादावनुवृत्तप्रत्ययस्य प्रादुर्भावात्।

संज्ञा-शब्दों (Proper names) में उत्पत्ति से लेकर विनाश पर्यन्त शैशव, कौमार, यौवन आदि अवस्थाओं का भेद पड़ने पर भी, 'यह वही है'—इस तरह के अभेद की प्रतीति होती है जिससे देवदत्तत्वादि जाति सिद्ध होती है। क्रियाओं में भी जाति की ही प्रतीति होती है और उसे ही 'धातु' नाम से पुकारते हैं। 'पचति' इत्यादि क्रियाओं में सभी में क्रिया के अनुवृत्त होने की प्रतीति होती है (जितने लोग पाक कर रहे हैं उन सबों में 'पचति' का ही अनुवर्तन होता है)।

द्रव्यपदार्थवादिव्याडिनये शब्दस्य व्यक्तिरेवाभिधेयतया प्रतिभासते। जातिस्तूपलक्षणतयेति नानन्त्यादिदोषावकाशः।

द्रव्य (व्यक्ति) को पदार्थ मानने वाले व्याडि-आचार्य के मत से अभिधेय के रूप में शब्द का व्यक्ति ही प्रतिभासित होता है [जाति नहीं]। जाति तो केवल उपलक्षण या संकेत के रूप में प्रतिभासित होती है अतः व्यक्ति के आनन्त्य आदि का दोष इस पर नहीं लग सकता। [ऐसी शंका हो सकती है कि अनंत गो-व्यक्ति होने के कारण 'गो' शब्द का अर्थ जानना कठिन है। किन्तु उत्तर यह होगा कि गोत्व-जाति से सभी गो-व्यक्तियों का ज्ञान हो जायगा। ऐसी दशा में गोत्व-जाति गोव्यक्ति का उपलक्षण है, वाच्यार्थ नहीं।]

(१२. पाणिनि के मत से पदार्थ—जाति-व्यक्ति दोनों है)

पाणिन्याचार्यस्योभयं संमतम्। यतो जातिपदार्थमभ्युपगम्य 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इत्यादिव्यवहारः। द्रव्यपदार्थमङ्गीकृत्य 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) इत्यादिः।

व्याकरणस्य सर्वपार्षदत्वान्मतद्वयाभ्युपगमे न कश्चिद्विरोधः । तस्माददृयं सत्यं परं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दार्थ इति स्थितम् ।

आचार्य पाणिनि को [शब्दार्थ रूप में जाति और द्रव्य या व्यक्ति] दोनो ही मान्य है। इसका कारण यह है कि जाति को पदार्थ मानकर उन्होंने 'जात्या-ख्यायाम्—' (अर्थात् जाति का वर्णन करने पर एकवचन शब्द विकल्प से बहुवचन होता है—पा० सू० १।२।५८) इत्यादि सूत्रों का प्रयोग किया है। [ऊपर के सूत्र के उदाहरण में 'ब्राह्मणः पूज्यः' और 'ब्राह्मणा पूज्याः' देते हैं जिनका अर्थ है कि ब्राह्मण जाति पूज्य है। यहाँ ब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्राह्मणत्व जाति। अतः पाणिनि को जाति पदार्थ मान्य है।] द्रव्य को पदार्थ मानकर पाणिनि ने 'सरूपाणाम्—' (अर्थात् एक समान विभक्ति में रहने वाले जितने सरूप शब्द हैं उनमें एक ही शब्द बच रहता है—पा० सू० १।२।६४) इत्यादि लिखा है। [उदाहरण है—रामश्च रामश्च रामौ। यदि यह सूत्र नहीं होता तो 'घटश्च पटश्च घटपटौ' की तरह द्वन्द्वसमास में यहाँ भी 'रामरामौ' होता। व्यक्ति अनेक होते हैं इसलिए उनके अनुसार कई 'राम' शब्दों का प्रयोग एक ही साथ होता—उसे रोकने के लिए यह एकशेष-विधायक सूत्र है। किसी भी दशा में व्यक्ति को पदार्थ मानने का श्रेय इस सूत्र को प्राप्त है।]

व्याकरण-शास्त्र सभी सभासदों के लिए समान है अतः दोनों मतों को मान लेने में कोई विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। [व्याकरण सभी लोगों के मतों पर ध्यान रखता है, जनतांत्रिक है अतः सभी मतों को माना जा सकता है। हाँ, उनमें परस्पर विरोध न हो।] इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अद्वैत, सत्य तथा परम (सर्वोच्च) ब्रह्मतत्त्व ही सभी शब्दों का अर्थ है [चाहे वह जाति पक्ष हो या व्यक्ति-पक्ष। जाति-पक्ष में गोत्वादि जातियों को ब्रह्म की सत्ता से पृथक् मानते ही नहीं। व्यक्ति (द्रव्य)—पक्ष में असत्य व्यक्ति की उपाधि के द्वारा सत्य ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन होता है।]

तदुक्तम् (वा० प० ३।३।८७)—

१७. तस्माच्छक्तिविभागेन सत्यः सर्वः सदात्मकः ।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते ॥ इति ।

सत्यस्वरूपमपि हरिणोक्तं सम्बन्धसमुद्देशे (७२)—

१८. यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाविकल्पितम् ।

तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः ॥ इति ।

द्रव्यसमुद्देशेऽपि (वा० प० ३।२।१५)—

१९. विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा ।
विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम् ॥ इति ।

ऐसा ही कहा गया है—'इसलिए शक्ति (शब्दार्थ बोध करानेवाली शक्ति) का विभाग करने से जब शब्द के वाच्यत्व की अवस्था आती है तब वही एकात्मक अर्थ जो सत्य, सर्वव्यापक तथा सद्रूप है, बहुत रूपों में प्रकाशित हो जाता है।' [विभिन्न शब्दों की सामर्थ्य का विभाजन करने पर वे शब्द वाच्यार्थ का बोध कराते हैं किन्तु ये सारे अर्थ उस एकात्मक सत्य ब्रह्मसत्ता के ही आभास हैं।]

भर्तृहरि ने सम्बन्ध-समुद्देश में अर्थ के सत्यस्वरूप का वर्णन भी किया है—'त्रयी (वेद) के अन्त (वेदान्त) को जाननेवालों का कहना है कि जहाँ द्रष्टा (देखनेवाला), दृश्य (वस्तु) तथा दर्शन (क्रिया)—इन तीनों की कल्पना नहीं रहती है, उसी [आत्मारूपी एकात्मक] अर्थ को सत्य कहते हैं ॥१८॥' द्रव्यसमुद्देश में भी वे कहते हैं—'जो विकार की अवस्था आने पर भी सच्चा ही बना रहे जैसे कुण्डल बन जाने पर भी स्वर्ण की सत्ता रहती है, तथा जिसमें विकार का आना जाना होता रहे उसे ही परम प्रकृति कहते हैं ॥ १९ ॥'

(१३. अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि)

अभ्युपगताद्वितीयत्वनिर्वाहाय वाच्यवाचकयोरविभागः प्रदर्शितः (वा० प० ३।२।१६)—

२०. वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाच्च न पृथक्कृतः ।
अपृथक्त्वेऽपि संबन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव ॥ इति ।

तत्तदुपाधिपरिकल्पितभेदबहुलतया व्यवहारस्याविद्यामात्रकल्पितत्वेन प्रतिनियताकारोपधीयमानरूपभेदं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दविषयः। अभेदे च पारमार्थिके संवृतिवशाद् व्यवहारदशायां स्वप्नावस्थावदुच्चावचः प्रपञ्चो विवर्तत इति कारिकार्थः ।

ऊपर सिद्ध किये गये अद्वैत-तत्त्व के निर्वाह के लिए वाच्य (ब्रह्मसत्ता) और वाचक (स्फोट) में अभेद भी दिखलाया गया है—'वह (ब्रह्मसत्ता) सभी शब्दों का वाच्य है, वह उस (नित्य स्फोट-रूपी) शब्द से पृथक् नहीं है। पृथक् न होने पर भी उन दोनों का संबन्ध जीव और परमात्मा की तरह है।'

[यद्यपि ब्रह्मसत्ता और स्फोट एक ही हैं पर कल्पना के कारण उन दोनों का पारस्परिक संबन्ध प्रतिभासित होता है। जीव और परमात्मा एक ही है परन्तु कल्पना से ही व्यवहारदशा में उन दोनों में नियाम्य-नियामक-भाव का संबन्ध प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार स्फोट और ब्रह्मसत्ता का संबन्ध है जो काल्पनिक है।]

ब्रह्मतत्त्व ही सभी शब्दों का विषय (वाच्य) है; उस (ब्रह्मतत्त्व) में प्रत्येक वस्तु के निश्चित आकार के अनुसार रूप के भेदों का आरोपण होता है किन्तु यह उन वस्तुओं की उपाधियों (Conditions) के द्वारा कल्पित भेदों के बाहुल्य के कारण तथा व्यवहारदशा को केवल अविद्या मान लेने के कारण होता है। चूँकि अभेद पारमार्थिक (वास्तविक) है अतः संवृति (आवरण, कल्पना) के कारण, व्यवहार–दशा में, स्वप्नावस्था की तरह, नाना प्रकार के प्रपंच (विस्तारपूर्ण वस्तुएँ) भ्रम से दिखलाई पड़ते हैं। यही उक्त कारिका (वाक्य० ३।२।१६) का अर्थ है।

तदाहुर्वेदान्तवादनिपुणाः—

२१. यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः।
एवं जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः॥ इति।

तदित्थं कूटस्थे परस्मिन्ब्रह्मणि सच्चिदानन्दरूपे प्रत्यगभिन्नेऽवगतेऽनाद्यविद्यानिवृत्तौ तादृग्ब्रह्मात्मनावस्थानलक्षणं निःश्रेयसं सेत्स्यति।

उसे वेदान्त-मत के विशेषज्ञों ने व्यक्त किया है—'जैसे यह स्वप्न का प्रपंच मेरे अन्दर की माया की वृद्धि के कारण है वैसे ही यह जागृतावस्था का प्रपंच भी मेरे अन्दर की माया की वृद्धि के कारण ही है। [जागृतावस्था के स्तर से हम स्वप्न की बातों को मिथ्या मानते हैं वैसे ही पारमार्थिक दशा के स्तर से जागृतावस्था की चीजों को भी मिथ्या ही कहना चाहिए।]'

तो इस प्रकार कूटस्थ, परमब्रह्म जो सच्चिदानन्द के रूप में तथा जीव (प्रत्यक्) से अभिन्न हैं, उन्हें जान लेने पर अनादिकाल से चली आनेवाली अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तथा उस निःश्रेयस की प्राप्ति होती है जिसमें साधक ब्रह्म के रूप में अवस्थित हो जाता है।

(१४. व्याकरण से मोक्षप्राप्ति)

'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' (महाभारत,

शा० प० अ० २७०) इत्यभियुक्तोक्तेः । तथा च शब्दानुशासनशास्त्रस्य निःश्रेयससाधनत्वं सिद्धम् । तदुक्तम्—

२२. तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रचक्षते ॥
(वाक्यपदीयम् १।१४) इति ।

तथा—

२३. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥
(वाक्य० १।१६) इति ।

तस्माद् व्याकरणशास्त्रं परमपुरुषार्थसाधनतयाऽध्येतव्यमिति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पाणिनिदर्शनम् ॥

बड़े लोगों का भी कहना है कि शब्दब्रह्म में प्रवीण होकर पुरुष परब्रह्म (मोक्ष, ब्रह्मसायुज्य) की प्राप्ति करता है। (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २७०)। इस तरह शब्दानुशासन (व्याकरण) शास्त्र मोक्ष का साधन है यह सिद्ध होता है। वही कहा भी है—'वह (व्याकरण-शास्त्र) अपवर्ग का साधन है, [पाप को उत्पन्न करने वाले अपशब्द रूपी] वाणी के मलों की चिकित्सा करने वाला है, सभी विद्याओं में पवित्र है तथा सभी विद्याओं में इसकी पूछ है' (वाक्य० १।१४)। [चूँकि सभी शास्त्रों में अर्थ शब्दों से ही लिया जाता है और शब्द का संस्कार व्याकरण के अधीन है अतः सबों को प्रकाशित करने वाला व्याकरण ही है।] उसी तरह—'यह (व्याकरण) सिद्धि के सोपान-खण्डों में पहला सोपान है—मोक्ष प्राप्त करने वालों के लिए तो यह सीधी सड़क ही है।' (वही, १।१६)।

अतः परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के उपाय के रूप में व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए—यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनि-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पाणिनिदर्शनमवसितम् ॥

(१४) सांख्य-दर्शनम्

तत्त्वद्वयं स पुरुषः प्रकृतिर्द्वितीया
धत्ते गुणानपि च सत्त्वरजस्तमांसि ।
सर्वं जगच्चलति तत्परिणामरूपं
तत्सांख्यकारमिह तं कपिलं नमामि ॥—ऋषिः ।

(१. सांख्य-दर्शन के तत्त्व)

अथ सांख्यैराख्याते परिणामवादे परिपन्थिनि जागरूके कथंकारं विवर्तवादः आदरणीयो भवेत् । एष हि तेषामाघोषः । संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रे चतस्रो विधाः संभाव्यन्ते । कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिद्विकृतिप्रकृतिश्च, कश्चिद्विकृतिरेव, कश्चिदनुभय इति ।

सांख्य-दार्शनिकों का कहा हुआ परिणामवाद है, इस विरोधी सिद्धान्त के जगे रहने पर भी [पाणिनि-दर्शन का] विवर्तवाद कैसे सम्मानित हो सकता है ?—उन सांख्यों का यही नारा है । संक्षेप में सांख्य-शास्त्र में [कहे गये पदार्थों के] चार प्रकार हो सकते हैं—कुछ पदार्थ केवल प्रकृति (मूल रूप है), कुछ प्रकृति और विकृति दोनों हैं, कुछ केवल विकृति ही हैं और कुछ पदार्थ दोनों में से कुछ भी नहीं (=पुरुष) ।

विशेष—जब सत्तायुक्त (existent) द्रव्य एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब इस क्रिया को **परिणाम** या विकास (evolution) कहते हैं, सांख्यों का मत है कि प्रकृति-आदि तत्त्व अपने-अपने कार्य के रूप में परिणत होते हैं । कार्य की सत्ता कारण के रूप में है जो निमित्त कारण के व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है । इसे सत्कार्यवाद कहते हैं । इसी के आधार पर ये लोग परिणामवाद भी मानते हैं । इसमें कारण की अवस्था तथा कार्यावस्था, दोनों दशाओं में द्रव्य सत्तायुक्त ही रहता है । विकार, परिणाम, विकास, अभिव्यक्ति, सत्कार्य—ये एकार्थक शब्द हैं, इनमें किसी वाद से सांख्य का ही बोध होता है । **विवर्तवाद** परिणामवाद का उलटा है । जब द्रव्य अपना पहला रूप न छोड़े किन्तु किसी भिन्न असत् रूप में दिखलाई पड़े तो इसे विवर्त कहते हैं जैसे रस्सी (मूल रूप) का साँप के रूप में दिखलाई पड़ना ।

इसमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता किन्तु भ्रान्ति से वैसा रूपान्तर केवल प्रतीत होता है। वैयाकरण तथा अद्वैत वेदान्ती लोग विवर्तवाद मानते हैं। उनका कहना ब्रह्म अधिष्ठान (आधार, मूल तत्त्व) है, यह सम्पूर्ण संसार उसी ब्रह्म का विवर्त है—भ्रान्ति से प्रतीत होता है कि यह जगत् ब्रह्म से पृथक् है, यहाँ नाना प्रकार की सत्तायें हैं आदि। वैयाकरण शब्दतत्त्व को ही ब्रह्म कहते हैं, यह दूसरी बात है। वेदान्तसार में सदानन्द ने दोनों वादों का अन्तर बहुत संक्षिप्त और सुन्दर रूप में स्पष्ट किया है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तत्त्व के साथ (वास्तव में) दूसरे रूप में समझना विकार है, तत्त्व के बिना (भ्रम से) दूसरे रूप में समझना विवर्त कहलाता है।

(२. प्रकृति का अर्थ)

तत्र केवला प्रकृतिः प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः। नासावन्यस्य कस्यचिद् विकृतिः। प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्। तदुक्तं—'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सां० का० ३) इति। मूलं चासौ प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः।

महदादेः कार्यकलापस्यासौ मूलं न त्वस्य प्रधानस्य मूलान्तरमस्ति। अनवस्थापातात्। न च बीजाङ्कुरवदनवस्था-दोषो न भवतीति वाच्यम्। प्रमाणाभावादिति भावः।

इनमें केवल प्रकृति का अर्थ है 'प्रधान' के नाम से पुकारी जानेवाली मूल-प्रकृति। यह किसी भी दूसरे पदार्थ की विकृति (विकार) नहीं है। जो प्रकृष्ट रूप से (तत्त्वों का उत्पादन करते हुए) कार्य करे (प्र + √कृ) वही प्रकृति है—इस प्रकार की व्युत्पत्ति (निर्वचन) से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का बोध होता है' कहा भी है—'मूल-प्रकृति बिना विकृति के ही है' (सां० का० ३)। वह इसलिए मूल प्रकृति कहलाती है कि वह मूल भी है और प्रकृति (उत्पादक) भी।

महत् आदि कार्य-समूह का मूल (Root) वही प्रकृति ही है किन्तु इस प्रधान का कोई दूसरा मूल (कारण) नहीं। [यदि इस प्रधान के भी कारण

की खोज करेंगे तो] अनवस्था-दोष होगा। [प्रकृति का कारण खोजने पर उस कारण का भी कोई दूसरा कारण होगा—इस कारण-शृङ्खला का कहीं अन्त नहीं होगा, इसलिए कहीं पर ठहरना आवश्यक है। मूल-प्रकृति को ही अंतिम कारण मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगेगा।]

'बीज और अंकुर में जिस प्रकार अनवस्था-दोष नहीं लगता उसी प्रकार यहाँ भी नहीं होगा'—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता, यही अभिप्राय है। [बीज का कारण अंकुर है किन्तु अंकुर का कारण दूसरा ही बीज है, वह बीज नहीं। उस बीज का कारण भी दूसरा ही अंकुर है, वह अंकुर नहीं। इस प्रकार अनवस्था होने पर भी दोष नहीं होता क्योंकि प्रत्येक की गति में अन्तर है। उसी प्रकार यहाँ भी अनवस्था दोष के रूप में नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण से दो पदार्थों में परस्पर कार्यकारण भाव सिद्ध हो जाता है वहाँ 'उन दोनों पदार्थों में कौन प्रथम है' इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर प्रवाह को अनादि मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगता। बीजांकुरन्याय इसे ही कहते हैं। प्रस्तुत स्थल में 'प्रधान या प्रकृति का अमुक कारण है' इस तरह का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इसलिए कार्य-कारण-भाव अप्रामाणिक है और अनवस्था-दोष हो ही जायगा।]

विशेष—प्रकृति में दो शब्द हैं—प्र और कृति। प्र का अर्थ है प्रकर्ष। दूसरे तत्त्व का आरम्भ करना प्रकर्ष है। जिस कारण से दूसरा तत्त्व उत्पन्न होता है उसे प्रकृति कहते हैं। मिट्टी के घड़े में पृथिवी से किसी दूसरे तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती, न मिट्टी ही कोई दूसरा तत्त्व (घड़े के रूप में) उत्पन्न करती फिर भी मिट्टी को घड़े की प्रकृति कहते हैं। यहाँ प्रकृति का अर्थ उपादान-कारण समझते हैं और ऐसा व्यवहार लोक में चलता है। परंतु शास्त्रीय दृष्टि से तत्त्वान्तर को आरंभ करने वाली ही प्रकृति होती है। प्रकृति से इन पदार्थों का बोध होता है—प्रधान (मूल प्रकृति), महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र। इनमें प्रथम पाँच केवल या शुद्ध प्रकृति है. पिछली सात प्रकृतियाँ समय पर विकृतियाँ भी हो जाती हैं क्योंकि ये मूल-प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। इनका वर्णन पीछे मिलेगा। अभी मूल-प्रकृति का वर्णन करें।

मूल-प्रकृति का दूसरा नाम **प्रधान** भी है। तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) के रूप में यह प्रधान रहता है। प्रधान की स्थिति में ये तीनों गुण बिल्कुल बराबर-बराबर रहते हैं। इसीलिए उन तीनों को पहचानना कठिन हो जाता है कि अमुक सत्त्व है और अमुक रजस्। इसलिए वहां (मूल-प्रकृति में) तीन तत्त्वों का प्रयोग न होकर एक तत्त्व का ही व्यवहार चलता है। ये तीनों

गुण द्रव्य हैं क्योंकि न केवल महत् आदि तत्त्वों के उपादान कारण हैं, अपितु संयोग और विभाग के आश्रय भी हैं। पुरुष के भोग के लिए ये साधन हैं तथा गौण रूप में हैं, इसीलिए इन्हें **गुण** कहा जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ये प्रकृति के धर्म (Qualities) हैं। प्रकृति इन गुणों से पृथक् नहीं है—प्रकृति का अर्थ है तीनों गुणों की साम्यावस्था और तीनों गुणों की साम्यावस्था का अर्थ है प्रकृति। दोनों में स्वरूप का संबन्ध है। सांख्य-प्रवचन-सूत्र (६।३९) में लिखा है—**सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्।** 'प्रकृति के गुण हैं' ऐसा व्यवहार 'वन के वृक्ष' की तरह ही औपचारिक (Formal) है।*

पुरुष के संयोग से गुणों में वैषम्य आता है। इस दशा में प्रत्येक गुण पहचानने योग्य हो जाता है। यह एक प्रकार का परिणाम है जिसमें लघुत्व, प्रकाश आदि फल लगते हैं। प्रकृति की अपेक्षा वैषम्यावस्था के तीनों गुण पृथक् हो जाते हैं। कुछ सांख्यों ने तो इनकी भी गणना करके अपने तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस पहुँचा दी है। सत्त्व आदि गुणों के कुछ अपने स्वभाव भी हैं जो इस प्रकार हैं—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥
(सां० का० १३)।

सत्त्वगुण हल्का और इसीलिए प्रकाशक माना जाता है, रजोगुण चंचल तथा इसीलिए उत्तेजक (उपष्टम्भक) है, तमोगुण भारी अतएव अवरोधक (नियामक) है—एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये तीनों मिलकर काम करते हैं जैसे दीपक में अग्नि बत्ती और तेल का विरोधी है फिर भी तीनों मिलकर वस्तुओं के प्रकाशन का कार्य करते हैं।

सत्त्व हल्का होने के कारण अपने कार्य—इन्द्रियों—में विषय-ग्रहण की पटुता उत्पन्न करता है। इसके प्रकाशक होने के कारण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का प्रकाशन कर लेती हैं। रजस् स्वभावतः चंचल है। सत्त्व और

* गीता (१४।५) में जो कहा है कि—'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।' यहाँ गुण का अर्थ प्रकृति के स्वरूप के रूप में गृहीत गुण नहीं है, किन्तु इन गुणों के कार्य के रूप में जो वैषम्यावस्था से युक्त सत्त्व आदि हैं उन्हीं का बोध इससे होता है। ये गुण ही महत् आदि के कारण हैं। यदि प्रकृति के स्वरूप वाले गुणों का अर्थ होता तो प्रकृति से उत्पन्न होना संभव ही नहीं था—ये गुण नित्य हैं। इस प्रकार गुण शब्द के विभिन्न अर्थ प्रयुक्त होते रहे हैं।

तमस् स्वभावतः निष्क्रिय हैं अतः अपने आप प्रवृत्त नहीं होते। प्रवृत्ति प्रदान करने का धर्म ही 'उपष्टम्भक' है। तमस् गुरु है जिससे इसके प्रकर्ष के कारण सत्त्व और रजस् बँध जाते हैं, आगे चल नहीं पाते। यही उसका आवरक या अवरोधक धर्म है।

सत्त्व के धर्मों में सुख, प्रसाद, प्रकाश आदि हैं। रजस् के धर्म दुःख, कालुष्य, प्रवृत्ति आदि हैं। तमस् के धर्म मोह, आवरण, स्तम्भन आदि हैं। धर्म और धर्मी में अभेद मानकर सत्त्व को सुखात्मक, रजस् को दुःखात्मक तथा तमस् को मोहात्मक भी कहते हैं। विशेष ज्ञान के लिए तत्त्वकौमुदी (वाचस्पति मिश्र) या प्रवचनसूत्र भाष्य (विज्ञानभिक्षु) के संगत स्थल देखें।

(३. प्रकृति और विकृति से युक्त तत्त्व)

विकृतयश्च प्रकृतयश्च महदहंकारतन्मात्राणि। तदप्युक्तं 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' (सां० का० ३) इति। अस्यार्थः—प्रकृतयश्च ता विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त महदादीनि तत्त्वानि। तत्रान्तःकरणादिपदवेदनीयं महत्तत्त्वमहंकारस्य प्रकृतिः। मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः।

एवमहंकारतत्त्वमभिमानापरनामधेयं महतो विकृतिः। प्रकृतिश्च तदेवाहंकारतत्त्वं तामसं सत्पञ्चतन्मात्राणां सूक्ष्माभिधानाम्। तदेव सात्त्विकं सत्प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणां बुद्धीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानां धर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानामुभयात्मकस्य मनसश्च। रजसस्तूभयत्र क्रियोत्पादनद्वारेण कारणत्वमस्तीति न वैयर्थ्यम्।

महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तन्मात्र)—ये ऐसे तत्त्व हैं जो विकृति (मूल प्रकृति के विकार) और प्रकृति (दूसरे तत्त्वों के उत्पादक) भी हैं। यह भी सांख्यकारिका के उसी प्रसंग में कहा है—'महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति-विकृति दोनों हैं' (सां० का० ३)। इसका यह अर्थ है—जो प्रकृतियाँ भी हैं तथा विकृतियाँ भी, उन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं जो महत् आदि सात तत्त्व हैं। उनमें 'अन्तःकरण' आदि शब्दों के द्वारा बोधित होनेवाला महत्-तत्त्व है जो अहंकार नामक अगले तत्त्व की प्रकृति है किन्तु स्वयं वह मूल-प्रकृति की विकृति (Evolute) है।

इसी तरह अहंकार-तत्त्व, जिसका दूसरा नाम 'अभिमान' भी है, महत्तत्त्व की विकृति (कार्य) है, जब कि वही अहंकार-तत्त्व, तमोगुण से युक्त होने पर, 'सूक्ष्म' नामक पाँच तन्मात्रों की प्रकृति (कारण Evolvent) बन जाता है। वही, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से, ग्यारह इन्द्रियों की अर्थात् आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ा——इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की; वचन, पाणि, पाद, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)——इन कर्मेन्द्रियों की तथा उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) मन की भी, प्रकृति है। रजोगुण तो दोनों अवस्थाओं में कार्य उत्पन्न करने के चलते अपने-आप कारण है, उसे व्यर्थ न समझें।

विशेष—प्रकृति के नाम से सांख्य-दर्शन में आठ तत्त्व विहित हैं। उनमें मूल-प्रकृति या प्रधान का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रस्तुत संदर्भ में बाकी तत्त्वों का वर्णन किया जा रहा है। दूसरा तत्त्व बुद्धि है जिसे महत् भी कहते हैं। इसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य नाम के प्रकृष्ट गुण रहते हैं। महत् (बुद्धि-सामान्य) मूल-प्रकृति से ही उत्पन्न होता है। प्रधान की तरह यह भी त्रिगुणात्मक है। किन्तु सत्त्वांश की प्रधानता रहती है। फिर भी कभी-कभी रजस् और तमस् भी प्रकट होते हैं। प्रत्येक जीव में अपनी-अपनी उपाधियों से युक्त होकर यह बुद्धितत्त्व पृथक् पृथक् रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की बुद्धि में क्रमशः रजस्, सत्त्व और तमस् का आविर्भाव होता है। कुछ बुद्धितत्त्वों में रजस् और तमस् का आविर्भाव होने से सत्त्व तिरोहित हो जाता है, महत् होने पर भी अमहत् के समान अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से युक्त होते हैं—इस प्रकार की उपाधियों से युक्त होने पर क्षुद्र तथा पुण्यहीन जीव धर्माचरण में प्रवृत्त न होकर अधर्म करते दिखलाई पडते हैं।

महत्तत्त्व को माधवाचार्य 'अन्तःकरण' भी कहते हैं। यह शब्द बड़ा भ्रामक है क्योंकि इससे बुद्धि, अहंकार और मन तीनों का बोध होता है। अन्तःकरण-रूपी वृक्ष का अंकुर महत्तत्त्व ही है। निश्चय करने वाला अन्तःकरण **बुद्धि** है, अभिमान करने वाला अन्तःकरण **अहंकार** है तथा संकल्प करने वाला अन्तःकरण **मन** है। यही इन तीनों में अन्तर है।

सामान्य से विशेष की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व सामान्य बुद्धि का बोधक है, इससे विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है। विशेष बुद्धि में 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) का बोध सम्मिलित है 'इदम्' का बोध 'अहम्' के बोध पर निर्भर है इसलिए महत् से तृतीय तत्त्व अर्थात् अहंकार-तत्त्व की उत्पत्ति पहले होती है। तीनों गुण इसे भी बाँधते हैं, अतः सात्त्विक, राजस, और तामस के भेद से अहंकार के तीन भेद हैं। सात्त्विक को वैकारिक, राजस को तैजस तथा

तामस को भूतादि भी कहते हैं। जहां रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्वगुण उत्कट होता है वहाँ सात्त्विक अहंकार कहलाता है। वह तैजस-अंश से युक्त होकर प्रवृत्ति दिखलानेवाली ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। यही कारण है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति को सात्त्विक या तैजस दोनों नाम से पुकारते हैं। जहां सत्त्व और रजस् को दबाकर तमोगुण उत्कट होता है उसे तामस अहंकार कहते हैं। यह भी तैजस-अंश के साथ मिलकर प्रवृत्ति-धर्म वाले पाँच तन्मात्रों को उत्पन्न करता है। इसीलिए पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति को तामस या तैजस कहते हैं।

पाँच तन्मात्रों से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र का बोध होता है। शब्द आदि जो विशेष-रहित गुण हैं इन्हीं में रहने वाले पाँच सूक्ष्म भूतों (तत्त्वों Elements) को तन्मात्र (Subtle elements) कहते हैं। शब्द से केवल शब्द (विशेष से रहित शब्द) का बोध होने के कारण इसे शब्द–तन्मात्र (शब्द और केवल उतना ही) कहते हैं। इसी प्रकार अन्य तन्मात्र भी हैं। शब्द के विशेष भी होते हैं जैसे उदात्त, अनुदात्त, निषाद, ऋषभ आदि। स्पर्श के विशेषों (Kinds) में शीतत्व, उष्णत्व, मृदुत्व आदि हैं। रूप में नीलत्व, शुक्लत्व आदि विशेष हैं। रस में मधुरत्व, अम्लत्व आदि और गन्ध में सुरभित्व और असुरभित्व—ये विशेष हैं। सांख्यतत्त्वविवेचन में कहा भी है—

> शब्दतन्मात्रमित्येतच्छब्द एवोपलभ्यते ।
> न तूदात्तनिषादादिभेदस्तस्योपलभ्यते ॥

ये तन्मात्र क्रमशः आकाश (शब्दतन्मात्र), वायु (स्पर्शत०), अग्नि (रूपत०), जल (रसत०) और पृथिवी (गन्धत०) की उत्पत्ति करते हैं जो पञ्च महाभूत कहलाते हैं।

ये आठ प्रकृतियाँ, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत—सब मिलकर चौबीस तत्त्व हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। वह जीवात्मा ही है, कोई सर्वज्ञ ईश्वर नहीं। यह पुरुष भी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है नहीं तो सुख, दुःख, मोह, जन्म, मरण, मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए सांख्य-प्रवचन-सूत्र में (६।४५) कहा गया है—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। वह जीवात्मा अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता और क्षेत्रविद् (प्रकृति को जानने वाला) है। इतना होने पर भी सांख्य में ईश्वर नहीं माना जाता जिससे कभी-कभी इसे **निरीश्वर सांख्य** भी कहते हैं। इसकी तुलना में योग-दर्शन को **सेश्वर सांख्य** कहते हैं।

यह स्मरणीय है कि वैशेषिकों के द्वारा कहे गये सात पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं पचीस तत्त्वों में होता है। पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन का तो इन्हीं शब्दों के द्वारा उल्लेख हुआ है। आत्मा पुरुष है। दिशा और काल आकाश के अन्तर्गत हैं। गुण, कर्म और सामान्य तो द्रव्य के ही अन्तर्गत हैं क्योंकि धर्म और धर्मी अभिन्न हैं। विशेष और समवाय का तो कोई उपयोग ही नहीं इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता। अभाव एक प्रकार का भाव ही है। घट का प्रागभाव मिट्टी ही है, घटध्वंस का अर्थ है फूटे टुकड़े, घट का अत्यंताभाव केवल आधार को ही कहते हैं, पटादि घट का अन्योन्याभाव है।

तदुक्तमीश्वरकृष्णेन—

१. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकरणगणस्तन्मात्रापञ्चकं चैव ॥
२. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥
३. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥
४. उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ॥

(सां० का० २४–२७) इति।

विवृतं च तत्त्वकौमुद्यामाचार्यवाचस्पतिभिः।

जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने [सांख्यकारिका में] कहा है—'अभिमान की भावना* को अहंकार-तत्त्व कहते हैं। इससे दो प्रकार के ही कार्य (सृष्टि) उत्पन्न होते हैं, एक दो ग्यारह इन्द्रियों (करणों) का समुदाय और दूसरा पाँच तन्मात्रों (तन्मात्राओं) का ॥ २४ ॥ [सांख्यकारिका में पाठ है—एकादशकश्च गणः तन्मात्रपञ्चकश्चैव। वाचस्पति ने भी यही पाठ रखा है।] 'तदस्य परिमाणम्' के अर्थ में पाणिनिसूत्र (५।१।२२) अर्थात् 'संख्याया अतिशदन्तायाः

* वाचस्पति कहते हैं—'जो आलोचित और विचारित विषय है, उसका मैं अधिकारी हूँ', 'मैं यह काम करने में समर्थ हूँ', 'ये विषय मेरे ही लिए हैं', मेरे सिवा इनका कोई अधिकारी नहीं है', 'इसलिए मैं हूँ'—ये असाधारण व्यापार होने के कारण अभिमान या अहंकार हैं।

कन्' से कन् प्रत्यय होने से एकादशकः और पञ्चकः शब्द बने हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन—ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं जिन्हें प्रकाशक कहते हैं। शब्दतन्मात्र आदि पाँच तन्मात्रों का समुदाय जड़ है। अब पूछा जा सकता है कि अहंकार तो एक रूप का ही है ऐसे कारण से परस्पर विलक्षण कार्य अर्थात् जड और प्रकाशक, दोनों की उत्पत्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर आगे की कारिका में दिया जाता है—]

'वैकृत (सात्त्विक, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से युक्त) अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है और भूतादि (=तामस) अहंकार से तन्मात्राएँ होती हैं जो तामस हैं। तैजस या राजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं॥ २५॥ [प्रकाशक तथा लघु होने के कारण इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं—सत्त्व में प्रकाश और लाघव रहते हैं। तन्मात्राएँ तमोगुण-प्रधान हैं क्योंकि उनमें गुरुत्व (स्थिरता) और आवरक-गुण है। अहंकार यद्यपि एक ही है किन्तु गुणों के उद्भव तथा अभिभव के कारण विभिन्न कार्य करता है। सत्त्वगुण और तमोगुण से सारे कार्य उत्पन्न होने पर भी रजोगुण की आवश्यकता इसलिए होती है कि ये दोनों गुण स्वयं निष्क्रिय हैं, समर्थ होने पर भी अपना-अपना कार्य तब तक नहीं कर सकते जब तक रजोगुण (जो चंचल है) इन्हें कार्य में प्रवृत्त न कर दे। अतः राजस अहंकार उक्त दोनों अहंकारों में क्रिया उत्पन्न करके सहायता करता है, वह व्यर्थ नहीं है। अब सात्त्विक गण का वर्णन करते हुए बाह्येन्द्रियों—ज्ञानेन्द्रियों—का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—]

'ज्ञान (बुद्धि) की इन्द्रियाँ पाँच हैं—आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) हैं॥ २६॥ [इन्द्र = आत्मा। उसका लिंग या ज्ञापक=इन्द्रिय। इन्द्रियों की प्रवृत्ति से ही आत्मा का अनुमान होता है। सात्त्विक अहंकार के कार्य में इन्द्रिय शब्द योगरूढ हो गया है, अतः अहंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती। वाचस्पति ने सांख्यकारिका के आधार पर सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी है। उधर विज्ञानभिक्षु केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय मन को ही सात्त्विक मानते हैं। उनके मत से दसों इन्द्रियाँ राजस हैं। अब मन का वर्णन करते हैं—]

'यहाँ मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है तथा अन्य इन्द्रियों के सजातीय होने के कारण इसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। [मन से जब इन्द्रियों का संबन्ध होता है तब इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का सामान्य ज्ञान ग्रहण करती हैं। उसके बाद मन उन्हें ठीक-ठीक रूप में पहचानता है कि यह

ऐसा है, वह ऐसा। संकल्प इसे ही कहते हैं। इसमें विशेष्य और विशेषण का संबन्ध देखकर विचार होता है। मन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों, दोनों की सहायता करता है।]'

इन सबों का विवरण आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्य-तत्त्व-कौमुदी (२४-२७) में दिया है।

विशेष—यह ध्येय है कि माधवाचार्य अन्य दर्शनों में मूल-सूत्रों तथा उनकी व्याख्याओं की सहायता लेते हैं। उद्धरण देने में वे सबसे प्राचीन उपलब्ध तथा प्रामाणिक ग्रन्थ का आश्रय लेते हैं। किन्तु सांख्य-दर्शन के विवेचन में वे ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका की ही सहायता लेते हैं। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार सांख्यकारिका ही प्राचीनतम प्रामाणिक पुस्तक था। सांख्य-दर्शन के इतिहास में कपिल आदि ऋषि हैं अवश्य, किन्तु इनके नाम स जो सांख्य-सूत्र प्रचलित है वह प्रामाणिक नहीं। बाद के किसी विद्वान् ने उनके नाम से सांख्य-सूत्र और साख्यसमाससूत्र (तत्त्वसमास) की रचना की थी। १५०० ई० से पूर्व इन दोनों में से किसी ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं मिलता।

ईश्वरकृष्ण से पहले के आचार्यों में कपिल, आसुरि और पंचशिख क्रमशः गुरु-शिष्य थे। परन्तु इनके ग्रन्थों का पता नहीं। कितने लोग तो इनकी ऐतिहासिकता में भी संदेह करते हैं। एक दूसरे आचार्य वार्षगण्य ने षष्टितन्त्र लिखा था जिसका उल्लेख सांख्यकारिका में मिलता है। सांख्य-दर्शन में सबसे अधिक प्रामाणिक ईश्वरकृष्ण थे जिन्होंने सांख्यकारिका लिखी। इसमें आर्या छन्द में ७२ कारिकाएँ हैं जो सांख्य के विषय में स्पष्ट और निश्चित सिद्धान्त देती हैं। वस्तुतः सांख्य-दर्शन कहने से **सांख्य-कारिका** का ही बोध होता है। इसके समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है फिर भी १००-२०० ई० के बीच में यह कभी-न-कभी लिखी गई थी। बहुत से आचार्यों ने इस पर वृत्ति, भाष्य और टीकाएँ लिखी थीं। इनमें वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) की **तत्त्वकौमुदी** बहुत प्रसिद्ध है। इनके पाण्डित्य के अनुकूल ही यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक भी है।

सोलहवीं शताब्दी से **सांख्यसूत्र** और **तत्त्वसमास** पर टीकायें मिलने लगती हैं। विज्ञान-भिक्षु (१५५० ई०) ने सूत्र पर भाष्य लिखकर स्वतन्त्र रूप से **सांख्यसारविवेक** नामक ग्रंथ लिखा। नागेशभट्ट ने भी सूत्रों पर वृत्ति लिखकर अपना हाथ अजमाया था (१७२५)। तत्त्वसमास के टीकाकारों में भावागणेश (१५७५ ई०) और विभानन्द मुख्य हैं। भावागणेश ने स्वतन्त्र रूप से भी **सांख्यसार**, **सांख्यपरिभाषा** और सांख्यतत्त्वप्रदीपिका—ये तीन ग्रन्थ लिखे थे।

(४. केवल विकृति के रूप में वर्तमान तत्त्व)

केवला विकृतिस्तु वियदादीनि पञ्च महाभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि च। तदुक्तं—'षोडशकस्तु विकारः' (सां० का० ३) इति। षोडशसंख्यावच्छिन्नो गणः षोडशको विकार एव, न प्रकृतिरित्यर्थः। यद्यपि पृथिव्यादयो गोघटादीनां प्रकृतिस्तथापि न ते पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति न प्रकृतिः। तत्त्वान्तरोपादानत्वं चेह प्रकृतित्वमभिमतम्। गोघटादीनां स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोः समानत्वेन तत्त्वान्तरत्वाभावः।

केवल विकृति के रूप में विद्यमान तत्त्वों में आकाश (वियत्) आदि पाँच महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। जैसा कि कहा भी है—'सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य (विकार) ही है' (सां० का० ३) 'षोडशक' का अर्थ है सोलह संख्या से परिमित गण (समुदाय), जो केवल कार्य ही है, प्रकृति अर्थात् कारण नहीं। यद्यपि पृथिवी आदि तत्त्व गौ, घट, वृक्ष आदि के कारण ही हैं किन्तु ये पदार्थ पृथिवी आदि से तत्त्व में पृथक् नहीं हैं—यही कारण है कि पृथिवी आदि को कारण (प्रकृति) नहीं मानते। अपने से भिन्न तत्त्व का उपादान कारण बननेवाली वस्तु ही यहाँ पर 'प्रकृति' शब्द से अभिप्रेत है। गौ, घट आदि पदार्थ पृथिवी आदि से पृथक् नहीं हैं, [यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि गौ, घट आदि] उसी प्रकार स्थूल और इन्द्रियग्राह्य हैं, जिस प्रकार पृथिवी।

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि जायन्ते। इन्द्रियसृष्टिस्तु प्रागेवोक्ता। तदुक्तम्—

५. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
(सां० का० २२) इति।

उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का प्रत्येक तन्मात्र अपने पूर्व के तन्मात्र (सूक्ष्म भूत) से युक्त होकर आकाशादि पाँच महाभूतों को उत्पन्न करता है—जिनमे क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच गुण रहते हैं। [शब्द-

तन्मात्र से शब्द (एक) गुण वाला **आकाश** उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र से युक्त स्पर्शतन्मात्र से शब्द-स्पर्श (दो) गुणों वाली **वायु** उत्पन्न होती है। शब्द और स्पर्शतन्मात्रों से युक्त रूपतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप (तीन) गुणों वाला **तेजस्** उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श और रूपतन्मात्रों से युक्त रसतन्मात्र से **जल** उत्पन्न होता है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण रहते हैं। अन्त में शब्द, स्पर्श, रूप और रसतन्मात्रों से युक्त गन्धतन्मात्र से **पृथिवी** उत्पन्न होती है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण रहते हैं। (वाचस्पतिमिश्र)]

इन्द्रियों की सृष्टि तो पहले ही कह दी गई है। [इसके सार-रूप में सांख्यकारिका में] कहा गया है—'प्रकृति से महत्-तत्त्व, उससे अहंकार, उससे सोलह तत्त्वों का समुदाय (पाँच तन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियाँ), इस सोलह [के अन्दर] के पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूत [उत्पन्न होते हैं]' (सां० का० २२)।

(५. प्रकृति-विकृति से रहित पुरुष-तत्त्व)

अनुभयात्मकः पुरुषः। तदुक्तं—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सां० का० ३) इति। पुरुषस्तु कूटस्थनित्योऽपरिणामी न कस्यचित्प्रकृतिर्नापि विकृतिः कस्यचिदित्यर्थः।

पुरुष दोनों में कुछ भी नहीं है। कहा है—'पुरुष न तो प्रकृति (कारण) ही है और न विकृति (कार्य) ही' (सां० का० ३)। पुरुष कूटस्थ (अचल, निर्विकार), नित्य तथा परिणाम (विकास) से रहित है—इसीलिए न तो वह किसी का कारण है, न किसी का कार्य।

विशेष—सभी मनुष्यों में जो चेतन-तत्त्व है वही पुरुष है। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, कुछ कार्य नहीं कर सकता है। प्रकृति के साथ संपृक्त होने के कारण यह बन्धन में पड़ा रहता है, जिस समय प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाता है, उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। सांख्य में पुरुषों की बहुलता सिद्ध की जाती है। यदि बहुलता नहीं होती तो एक पुरुष के सुखी, दुःखी, मूढ, बद्ध या मुक्त हो जाने से सभी पुरुष वैसे ही हो जाते। एक पुरुष के मरने पर सभी मरते, जन्म लेने पर सबों का जन्म होता आदि। पुरुषों को मुक्त करने के ही लिए प्रकृति संसार के रंगमंच पर नृत्य करती है। प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन आगे करेंगे। अभी प्रमाणों का वर्णन करते हैं।

(६. सांख्य-प्रमाण-मीमांसा)

एतत्पञ्चविंशतितत्त्वसाधकत्वेन प्रमाणत्रयमभिमतम् । तदप्युक्तम्—

६. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥
(सां० का० ४) इति ।

इन पचीस तत्त्वों को सिद्ध करने वाले तीन प्रमाण सांख्य-दर्शन में माने जाते हैं। वे भी इस रूप में कहे गये हैं—'प्रत्यक्ष (दृष्ट), अनुमान और शब्द प्रमाण में ही सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत हो जाने से तीन प्रमाण ही मान्य हैं। चूँकि प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है [अतः पहले प्रमाणों का ही वर्णन करके बाद में प्रमेयों का प्रतिपादन किया जायगा ।]' (सां० का० ४) ।

विशेष—सांख्य-दर्शन में तीन प्रमाणों की मान्यता मिलती है। अन्य प्रमाणों को (उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि) को इन्हीं तीनों में अन्तर्भूत कर लिया जाता है। ईश्वरकृष्ण ने पाँचवीं* कारिका में इन तीनों प्रमाणों के लक्षण दिये हैं जिनकी व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने विस्तृत रूप से की है।

(१) **प्रत्यक्ष (दृष्ट)**—दृष्ट का लक्षण देने में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' शब्द का प्रयोग किया गया है। पृथिवी आदि और सुखादि विषय हैं क्योंकि ये विषयी (बुद्धि) को बाँध लेते हैं (वि + √सि), अपने आकार में रँगकर उस बुद्धि को भी तद्रूप बना देते हैं। हमारे ज्ञान का विषय न बननेवाले सूक्ष्म तन्मात्र आदि भी योगियों और ज्ञानियों के विषय बन जाते हैं। जो प्रत्येक विषय में प्रवृत्त होता हो उसे 'प्रतिविषय' कहते हैं अर्थात् विषय से संबद्ध इन्द्रिय ही प्रतिविषय है। इस (इन्द्रिय) पर आश्रित जो अध्यवसाय (बुद्धिव्यापार या ज्ञान) है उसे ही दृष्ट कहते हैं। दूसरे शब्दों में, विषयों के साथ संबद्ध इन्द्रिय के द्वारा किये गये निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

(२) **अनुमान**—प्रत्यक्ष के बाद अनुमान आता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष पर आश्रित है। लिंग (व्याप्य) और लिंगी (व्यापक) के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला प्रमाण अनुमान है। शंकित तथा निश्चित दोनों प्रकार की उपाधियों‡ का

---

* प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ (सां० का० ५) ।

‡ देखिए—सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ० १९ (उपाधि), तथा पृ० १२ (उपाधि-भेद) ।

निराकरण हो जाने पर वस्तु के स्वभाव से ही जिसका साहचर्य सम्बन्ध हो वह व्याप्य होता है। जिसके साथ वह सम्बन्ध हो उसे व्यापक कहते हैं। धूम व्याप्य है, अग्नि व्यापक। इस ज्ञान के बाद जो ज्ञान होगा अनुमान कहलायगा। धूम (लिंग) पर्वत (पक्ष) मे उसके धर्म के रूप में विद्यमान है—यह पक्षधर्मता का ज्ञान है। तो, व्याप्य और व्यापक का व्याप्तिज्ञान तथा लिंग (व्याप्य) के पक्षधर्मता-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान-प्रमाण है। न्याय-दर्शन के अनुमान-भेदों को यहाँ भी स्वीकृत किया गया है जो तीन हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। किन्तु वाचस्पति ने पहले अनुमान के दो भेद किये हैं—वीत (अन्वयविधि से व्याप्ति के द्वारा प्रवृत्त) और अवीत (व्यतिरेकव्याप्ति से प्रवृत्त) अवीत को शेषवत् कहते हैं। किसी वस्तु की जहाँ-जहाँ संभावना हो, उन सभी स्थानों में वस्तु का निषेध करके अंत में और कोई उपाय न देखकर बचे हुए स्थान में ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना **शेषवत्** है। वीत के दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। जब किसी वस्तु का विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष कर लिया गया हो और उसके आधार पर उसके सामान्य रूप से युक्त विशेष का ज्ञान किया जाय तो उसे **पूर्ववत्** कहते हैं। रसोई-घर में विशिष्ट रूप में वह्नि देखकर धूम के द्वारा वह्नित्व से अवच्छिन्न (व्याप्त, युक्त) विशेष रूप अर्थात् पर्वतीय वह्नि का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रकार 'वह्नित्वसामान्य विशेष' का अनुमान हुआ। **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान का विषय ऐसी सामान्य वस्तु है जिसका विशेष रूप पहले देखा नहीं गया हो। जैसे—इन्द्रिय-विषयक अनुमान। रूपादि का ज्ञान क्रिया है, इस (लिंग) से इन्द्रियों का अनुमान होता है क्योंकि क्रिया किसी साधन (करण = साधन, इन्द्रिय) से ही उत्पन्न होती है। (विशेष विवरण के लिए त० कौ० देखें)।

(३) **आप्तवचन** (शब्द)—अनुमान के बाद आप्तवचन या शब्द प्रमाण इसलिए रखते हैं कि अनुमान के द्वारा ही बालक को 'शक्ति' अर्थात् शब्दार्थ-संबन्ध का ज्ञान होता है और शब्दार्थ के संबन्ध का ज्ञान होने पर ही शाब्दबोध (शब्द के अर्थ का साक्षात्कार) होता है। अतः अनुमान शब्द-प्रमाण का परम्परया (परोक्ष रूप से) कारण है। आप्तवचन का अर्थ है आप्त (प्रकृष्ट या उचित) श्रुति अर्थात् वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान। यह वाक्यार्थज्ञान जो स्वतंत्र रूप से प्रमाण होता है, अपौरुषेय वेदवाक्यों से* उत्पन्न होने से,

* सांख्य और मीमांसा दर्शनों में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। अतः किसी विशेष पुरुष (ईश्वर) के बनाये न रहने से वेद को अपौरुषेय मानते हैं। सांख्यसूत्र (५।४६) में कहा है—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। (बालरामोदासीन की विद्वत्तोषिणी टीका—त० कौ० पर।)

भ्रम, प्रमादादि पुरुषदोषों से रहित होने के कारण युक्त है। वेद के वाक्य तो प्रमाण हैं ही, वेदमूलक स्मृति, इतिहास, पुराण के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी युक्त होता है। 'आप्त' शब्द से युक्त या उचित श्रुतियों (आगमों) का ही बोध होता है। नहीं तो जैन, बौद्ध आदि के विचार जो आगम जैसे लगते हैं वे भी प्रमाण ही हो जायेंगे।

वाचस्पति ने इसके बाद उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव तथा ऐतिह्य प्रमाणों को (जो विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत हैं) इन्हीं के अन्दर सिद्ध किया है। कोई प्रत्यक्ष में, कोई अनुमान में और कोई आगम में अन्तर्भूत हो जाते हैं। स्मरणीय है कि छहों दर्शनों पर टीका करने वाले आचार्य बिल्कुल तटस्थ होकर इनकी विवेचना करते हैं। इसके बाद की कारिका में (छठी कारिका में) बतलाया गया है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि होती है। किन्तु जो पदार्थ परोक्ष हैं कि इससे भी सिद्ध न हो सकें तब उनकी सिद्धि आगम-प्रमाण से होती है। बात यह है कि बहुत दूर होने या समीप होने से, इन्द्रियों के घात या मन की अस्थिरता होने से, सूक्ष्मता के कारण या बीच में रुकावट पड़ जाने से, किसी वस्तु से अभिभूत (दब) हो जाने से या समान वस्तु में मिल जाने से कोई पदार्थ दिखलाई नहीं पड़ता (कारिका ७)। इस आधार पर यह नहीं सोचें कि पदार्थ है ही नहीं—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।

(७. कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विभिन्न मत)

इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति।

यहाँ पर कार्य और कारण के परस्पर सम्बन्ध को लेकर चार प्रकार के विभिन्न मतवाद हैं। बौद्ध (शून्यवादी) कहते हैं कि असत् (Non-existent) से सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। नैयायिक (वैशेषिक भी) आदि कहते हैं कि सत् पदार्थ (कारण) से असत् कार्य उत्पन्न होता है। वेदान्तियों (अद्वैत) की मान्यता है कि सत् कारण से विवर्त (कल्पित) कार्य उत्पन्न होता है और सारे कार्यों की वास्तविक सत्ता नहीं रहती। लेकिन सांख्यवाले कहते हैं कि सत् कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होता है।

विशेष—प्रमाणों के द्वारा उक्त पचीस तत्त्वों की सिद्धि करनी पड़ती है। उन तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जो प्रधान या प्रकृति है उसकी सिद्धि के लिए अनुमान ही एक साधन है। उस विषय में किये गये अनुमान का उपजीव्य सत्कार्यवाद का सांख्योक्त सिद्धान्त ही हो सकता है। प्रकृति तत्त्व के भीतर वे सारे विकार निहित हैं जिनकी उत्पत्ति प्रकृति से होती है, चाहे वह उत्पत्ति सीधे हो या परम्परा से हो। इस विषय में मतभेद प्रदर्शित करते हैं जिनके खण्डन के बाद अपने सत्कार्यवाद का पोषण करेंगे।

(१) बौद्धों का पक्ष है कि कारणवस्तु से कार्यवस्तु तभी उत्पन्न होती है जब कारणवस्तु असत् अर्थात् विनष्ट हो जाय। जब तक पूर्व वस्तु सत् या विद्यमान है तब तक कोई चीज उससे उत्पन्न ही नहीं हो सकती। बीज का नाश होने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है, मिट्टी का पिंड मिट जाने पर ही घट उत्पन्न होता है। बौद्ध लोग सभी भावात्मक (Positive) वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं। कार्य के क्षण में कारण तथा कारण-क्षण में कार्य नहीं रहता। पूर्वक्षणिक वस्तु के विनाश के बाद ही उत्तरक्षणिक वस्तु आती है—अतः विनष्ट (असत्) कारण ही सत् (विद्यमान) कार्य को उत्पन्न करता है। सत् का यहाँ अर्थ है क्षणभर खड़ा रहना, तीनों कालों में अबाधित होना नहीं।

(२) नैयायिक और वैशेषिक असत्कार्यवाद का सिद्धान्त मानते हैं। इनके अनुसार परमाणु आदि (कारण) द्व्यणुकादि कार्य पहले से विद्यमान नहीं (असत्) रहते हैं, उनसे ये सत् (विद्यमान) द्व्यणुकादि-कार्य बिल्कुल नवीन रूप में उत्पन्न होते हैं। मिट्टी में घट असत् है नहीं तो दोनों का एक ही नाम होता या फिर दोनों पर्याय माने जाते। दोनों को हम अलग-अलग देखते हैं। बौद्धों के अनुसार जहाँ कारण-वस्तु ही अविद्यमान (विनष्ट) होती है तब कार्योत्पत्ति होती है, न्याय के अनुसार कारण-वस्तु विद्यमान ही रहती है। हाँ, उसमें कार्य नवीन रहता है।

(३) अद्वैत-वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् (विद्यमान) है, जगत् के अन्य सभी रूप अज्ञानवश उसमें उसी प्रकार कल्पित या आरोपित हैं जैसे सीपी में चाँदी या रस्सी में साँप। जिस प्रकार सीपी का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें आरोपित चाँदी की पूर्वप्रतीति मिथ्या या भ्रमपूर्ण लगती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा माया का बन्धन (आवरण) हट जाने पर पारमार्थिक तत्त्व—ब्रह्म—में ज्ञानावस्था के पूर्व प्रतीत होनेवाला समस्त जगत् भ्रान्त लगता है, असत् (वस्तुतः मिथ्या, पारमार्थिक दृष्टि से असत्) लगता है। फलतः कारण (ब्रह्म) सत् है किन्तु कार्य (जगत्) मूलकारण ब्रह्म का विवर्त

(मिथ्यात्मक रूपान्तर Illusory emanation) है, परिणाम (वास्तविक रूपान्तर) नहीं। विवर्त होने के कारण इसकी (कार्य की) पारमार्थिक सत्ता नहीं, आभासिक या व्यावहारिक सत्ता ही है। न्याय में वस्तु का पारमार्थिक रूपान्तर मानते हैं, सांख्य के साथ भी यही बात है परन्तु वेदान्त में वस्तु का आभासिक रूपान्तर या विवर्त माना जाता है।

(४) सांख्य के अनुसार सत् कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है और वह कार्य भी सत् ही रहता है—कारण-व्यापार के पूर्व अव्यक्त रूप में विद्यमान कार्य ही कारण-व्यापार के पश्चात् व्यक्त रूप में उत्पन्न होता है। दूध से उत्पन्न होनेवाला दधि कारणव्यापार के पूर्व भी दूध में अव्यक्त रूप में विद्यमान है। प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले महत् अहंकार आदि तत्त्व उस (प्रकृति) में अव्यक्त रूप में रहते हैं। इस मत को सत्कार्यवाद कहते हैं। इसमें कारण से कार्य की उत्पत्ति का यही अर्थ है कि कोई अव्यक्त पदार्थ व्यक्त हो जाता है। स्मरणीय है कि सांख्य और न्याय के अनुसार कार्य एक तथ्य (Real) है जब कि वेदान्त में कार्य मिथ्या है, विवर्त है।

अब सांख्य के अतिरिक्त अन्य मतों के खण्डन का उपक्रम करते हुए सत्कार्यवाद की सिद्धि की जायगी और उसके लिए विभिन्न तर्क दिये जायँगे।

(७ क. कार्य-कारण-भाव के मतों का खंडन)

तत्रासतः सज्जायत इति न प्रामाणिकः पक्षः। असतो निरुपाख्यस्य शशविषाणवत्कारणत्वानुपपत्तेः। तुच्छातुच्छयोस्तादात्म्यानुपपत्तिश्च।

उन मतों में 'असत् से सत् उत्पन्न होता है' यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है। असत् का वर्णन नहीं हो सकता, यह खरहे की सींग की तरह [सत्ताहीन] है उसे कारण ही नहीं बताया जा सकता। दूसरे, तुच्छ (स्वरूपहीन) और अतुच्छ (स्वरूपयुक्त) पदार्थों में तादात्म्य-संबन्ध भी तो नहीं होता है। [तात्पर्य यह है कि एक तो असत् पदार्थ कारण नहीं हो सकता क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं, वह कार्योत्पादन क्या करेगा ? दूसरे, सत् और असत् का संबन्ध होना असंभव है क्योंकि असत् पदार्थ है स्वरूपहीन और सत् पदार्थ का कुछ स्वरूप होता है। पूर्वक्षण में होने वाला घटाभाव ही उत्तर क्षण में होने वाले घट का उपादान कारण है—ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। अभाव या असत् स्वरूपहीन होने के कारण अपने परवर्ती भाव या सत् के साथ तादात्म्य संबन्ध नहीं रख सकता।

जब तादात्म्य ही नहीं रहेगा तो उपादान और उपादेय का संबन्ध नहीं हो सकता। इसलिए बौद्धों का सिद्धान्त अमान्य है।]

नापि सतोऽसज्जायते। कारकव्यापारात्प्रागसतः शशविषाणवत्सत्तासंबन्धलक्षणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। न हि नीलं निपुणतमेनापि पीतं कर्तुं पार्यते। ननु सत्त्वासत्त्वे 'घटस्य धर्माविति चेत्—तदचारु। असति धर्मिणि तद्धर्म इति व्यपदेशानुपपत्त्या धर्मिणः सत्त्वापत्तेः।

सत् से असत् की उत्पत्ति का [न्याय-सिद्धान्त] भी प्रामाणिक नहीं ही है। कार्य को उत्पन्न करनेवाले पदार्थ की क्रिया (कारक-व्यापार) के पहले जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसकी उत्पत्ति खरहे की सींग की तरह ही असंभव है क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है सत्ता से सम्बन्ध रहना। [दो सत्तायुक्त पदार्थों का ही संबंध हो सकता है और सत्ता के साथ सम्बन्ध होने पर ही उत्पत्ति होती है। यह आज तक सुना नहीं गया कि खरहे की सींग या वन्ध्यापुत्र का सम्बन्ध किसी सत्तायुक्त पदार्थ के साथ हुआ है—असत् और सत् का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। पहले से असत् घटादि-कार्य का सम्बन्ध सत्ता से नहीं हो सकता इसलिए घटादि-कार्य की उत्पत्ति (= सत्ता से सबन्ध) नहीं मानी जा सकती।] सबसे निपुण व्यक्ति भी नीले को पीला नहीं कर सकते। [नील में पीत की सत्ता नहीं है—पीत वहाँ असत् है जब कि कार्यरूप में सत् है। तो जब नीले में पीला नहीं है तो नीला रंग कभी पीला नहीं होगा—असत् पीत कभी भी सत् पीत नहीं बन सकता। पहले से असत् घट कुम्भकार के व्यापार से भी सत् नहीं किया जा सकता। असत् और सत् में परस्पर विरोध है—वे कार्य-कारण भाव नहीं रख सकते।]

अब यदि ये (नैयायिक) कहें कि सत्ता और असत्ता, घट के ये दो धर्म हैं [अर्थात् जैसे वलयत्व धर्म से विभूषित स्वर्ण स्वर्णकार के व्यापार (क्रिया) से कुण्डलत्व-धर्म से युक्त हो जाता है वैसे ही यहाँ असत्त्व-धर्म से विशिष्ट घट कुम्भकारादि के व्यापार से सत्त्व-धर्म से युक्त हो जायगा], तो हम यह कहेंगे कि यह कहना उन्हें शोभा नहीं देता। धर्मी (घट) के नहीं रहने पर हम यह नहीं कह सकते कि यह (असत्) उस (घट) का धर्म है। नहीं तो धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी (= घट की नित्यता स्वीकार करनी पड़ेगी)। [आशय यह है कि यदि असत्त्व घट का धर्म माना जाय तो धर्म (असत्त्व) धर्मी (घट) के बिना नहीं रह सकता—यह भी मानना पड़ेगा। तो असत्त्व-धर्म के समय

धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी, अतः घट की सत्ता रहेगी ही। यही नहीं, इसके फलस्वरूप घट नित्य हो जायगा क्योंकि जब असत् काल में भी घट है तब तो वह नित्य ही न है ?]

विशेष—यहाँ पर दो ही मतों का खंडन किया गया है, विवर्तवाद का खंडन बाद में करेंगे। अब अपने सत्कार्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

(८. सत्कार्यवाद की सिद्धि)

तस्मात्कारकव्यापारात्प्रागपि कार्यं सदेव। सतश्चाभिव्यक्तिरुपपद्यते। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः कारणे किमपि निदर्शनं न दृश्यते। किं च कार्येण कारणं सम्बद्धं तज्जनकमसम्बद्धं वा। प्रथमे कार्यस्य सत्त्वमायातम्। सतोरेव सम्बन्ध इति नियमात्। चरमे सर्वं कार्यजातं सर्वस्माज्जायेत। असम्बद्धत्वाविशेषात्।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कारक (कर्ता, हेतु, कारण) के व्यापार के पूर्व भी कार्य की सत्ता रहती ही है। [तब कुम्भकार आदि की आवश्यकता क्यों ?] हाँ, इतना अवश्य है कि पहले से विद्यमान (सत्) कार्य की केवल अभिव्यक्ति होती है [जिसमें निमित्त कारण की अपेक्षा रहती है।] उदाहरण के लिए जैसे—पीसने (पेरने) पर तिलों से तेल की या दूहने पर गायों से दूध की [अभिव्यक्ति होती है। तिलों में तेल या गायों में दूध पहले से है पर अभिव्यक्ति के लिए पेरने के व्यापार की या दोहनव्यापार की अपेक्षा है। केवल अभिव्यंजक होने के कारण भी ये व्यापार कारण हुए।] असत् वस्तु (जैसे न्याय-दृष्टि से कारणावस्था में घट) की उत्पत्ति (दण्डादि) सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। [दृष्टान्त वैसा ही हो सकता है जो दोनों वादियों को स्वीकार हो। नैयायिक यदि घट का उदाहरण दें कि असत् घट का कारण दण्डादि है तो यह सम्भव नहीं। उधर सांख्य वाले घट को पहले से कारण-रूप में भी वर्तमान ही स्वीकार करते हैं आजतक कभी किसी ने असत् को उत्पन्न होते या अभिव्यक्त होते भी नहीं देखा कि दृष्टान्त दे सकें।]

इसके अतिरिक्त कारण-वस्तु कार्य-वस्तु को उससे या तो संबद्ध होकर उत्पन्न करती है या फिर असंबद्ध ही होकर (तीसरा विकल्प सम्भव नहीं)। संबद्ध होकर उत्पन्न करने से तो कार्य की सत्ता (कारण में कार्य का रहना)

ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि दो सत् वस्तुओं का ही सम्बन्ध होने का नियम है। यदि असम्बद्ध होकर उत्पन्न करती है तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होने लगे क्योंकि असंबद्धता तो सबों में बराबर ही रहेगी। [घट से मिट्टी को यदि असम्बन्ध है तो पट से भी तो उसे असम्बन्ध ही है। तो, मिट्टी घट और पट दोनों को उत्पन्न कर सकेगी। अतः असंबद्ध होकर कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। असंबद्ध असंबद्ध से नहीं उत्पन्न होता, संबद्ध पदार्थ ही संबद्ध को उत्पन्न कर सकता है—तिल से ही तेल होगा, पाषाण से नहीं।]

तदाख्यायि सांख्याचार्यैः—

७. असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।

इसे सांख्य के आचार्यों ने कहा है–[उत्पत्ति के पूर्व कार्य को] असत् मानने पर* सत्त्व के संग में रहने वाले [सत्त्व धर्म से युक्त] कारणों (मिट्टी आदि) से इसका संबन्ध नहीं हो सकता। [मिट्टी से घड़ा बनता है; मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य। यहाँ कारण वस्तु विद्यमान (सत्) है, किन्तु कार्यवस्तु अविद्यमान (असत्) है क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व कार्य रहता ही नहीं, यह न्यायमत है। अतः सत् (कारण) और असत् कार्य का संबन्ध होना कभी संभव नहीं।] अब यदि [कारण से] असंबद्ध (कार्य) की उत्पत्ति मानी जाय तो ['अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न होता है'—इस तरह की] व्यवस्था नहीं रहेगी। [मिट्टी से कपड़ा, जल से घड़ा, ईख से नमक आदि पैदा होने लगेंगे। किसी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न होने लगेगा।]

अथैवमुच्येत—'असंबद्धमपि तत्तदेव जनयति यत्र यच्छक्तम्। शक्तिश्च कार्यदर्शनोन्नेयेति।' तन्न संगच्छते। तिलेषु तैलजननशक्तिरित्यत्र तैलस्यासत्त्वे संबद्धत्वासंबद्धत्वविकल्पेन तच्छक्तिरिति निरूपणायोगात्। कार्यकारणयोरभेदाच्च कारणात्पृथक्कार्यस्य सत्त्वं न भवति।

यदि ऐसा उत्तर दिया जाय कि असंबद्ध होने पर भी कोई (कारण) उसी कार्य को उत्पन्न करता है जो कारण जिसे उत्पन्न करने में समर्थ (शक्त Capa-

* तत्त्वकौमुदी में पाठ 'असत्त्वे नास्ति' है। अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता। 'असत्त्वे' से साध्यता प्रकट होती है, 'असत्त्वात्' से सिद्धता।

ble) है [जैसे तन्तु पट को उत्पन्न करने में समर्थ है—मिट्टी घट को ।] किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान उसके कार्य को देखकर करना चाहिए । [मिट्टी की शक्ति का अनुमान घट देखकर होता है कि वह घटोत्पादन के लिए समर्थ है ।]

लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं हो सकती । 'तिलों में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है' इस प्रकार [असत्कार्यवाद के अनुसार तिलों में] तेल की सत्ता न मानने पर यह निश्चित नहीं कर सकते कि [तेल और उसे उत्पन्न करने की शक्ति के परस्पर] संबद्ध होने या असंबद्ध होने से भी उसमें वह शक्ति है ही । [अभिप्राय यह है—सांख्य दार्शनिक नैयायिकों से कहते हैं कि आपकी बात मान ली, कार्य देखकर हम किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान कर लेंगे, तिल में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है । परन्तु यह बतलाइये कि पहले से विद्यमान शक्ति जो तिल में है वह कार्योत्पत्ति के पूर्व तेल से सम्बद्ध है या नहीं ? यदि है तो तेल की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व भी है, सत्कार्यवाद की ही सिद्धि होगी । यदि सम्बद्ध नहीं है तो कैसे निरूपण करेंगे कि यह तेल को उत्पन्न करनेवाली शक्ति है ? दोनों दशाओं में गये ।] दूसरे, कार्य और कारण में भेद नहीं होता, इसलिए कारण से अलग कार्य की सत्ता नहीं होती । [कार्य-कारण में अभेद होने के कारण सत्ता एक ही रहती है, दो सत्ताएँ नहीं रहतीं । अतः कार्योत्पत्ति के पूर्व यदि कारण की सत्ता है तो कार्य की सत्ता भी अवश्य ही रहेगी ।]

पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते । तद्धर्मत्वात् । न यदेवं, न तदेवं यथा गोरश्वः । तद्धर्मश्च पटः । तस्मान्नार्थान्तरम् । तर्हि प्रत्येकं त एव प्रावरणकार्यं कुर्युरिति चेन्न । संस्थानभेदेनाविर्भूतपटभावानां प्रावरणार्थक्रियाकारित्वोपपत्तेः । यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति; एवं कारणस्य तन्त्वादेः पटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते । निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते ।

[कार्य का कारण से अभेद सिद्ध करने के लिए ये प्रमाण हैं—] पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं की अवस्था-विशेष (धर्म) है । जो ऐसा (किसी वस्तु से अभिन्न) नहीं है, वह उसका धर्म भी नहीं है जैसे गौ से अश्व । [गौ से अश्व अभिन्न नहीं है अर्थात् भिन्न है, इसलिए गौ की अवस्था-विशेष अश्व नहीं है । वह उससे पृथक् है ।] यहाँ पर पट तन्तुओं का धर्म (अवस्था-विशेष) है अतः भिन्न नहीं है ।

[अब इसमें शंका उठती है कि] तब तो अर्थात् तन्तु और पट में अभेद मान लेने पर प्रत्येक तन्तु ही आवरण का कार्य करता (जो काम कपड़े का है वही काम सूतों से भी चलता)। यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उन सूतों के संस्थान (विशेष रूप से सजाये गये रूप) में अन्तर रहने के कारण [जब उन सूतों से] पट-रूप का आविर्भाव (अभिव्यक्ति Manifestation) हो जाता है तभी ये आच्छादन-रूपी कार्य के सम्पादन में समर्थ होते हैं। [पट और तन्तु में संस्थान या सजावट का अन्तर है। जब ये तन्तु विशेष रूप से सजा दिये जाते हैं तभी पट का आविर्भाव होता है जो आच्छादन के काम में आता है।] जैसे कछुए के अंग उसके शरीर में प्रवेश करने पर तिरोहित कहलाते हैं और निकलने पर आविर्भूत कहलाते हैं वैसे ही सूत आदि कारणों से वस्त्रादि विशेष रूप (कार्य) निकलने या आविर्भूत होने पर 'उत्पन्न हो रहे हैं' ऐसा कहलाते हैं; प्रवेश करने पर या तिरोहित हो जाने पर 'नष्ट हो रहे हैं' ऐसा कहते हैं।*

न पुनरसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः। यथोक्तं भगवद्गीतायाम्—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(गी० २।१६) इति।

ततश्च कार्यानुमानात्तत्प्रधानसिद्धिः। तदुक्तम्—

८. असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥
(सां० का० ९) इति।

इसके अतिरिक्त, असत् वस्तु की उत्पत्ति या सत् वस्तु का विनाश भी नहीं होता। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—'असत् का अस्तित्व नहीं होता तथा सत् का अभाव नहीं होता' (गीता २।१६)। इस प्रकार कार्य के द्वारा अनुमान करके इन वस्तुओं के मूलकारण प्रधान या प्रकृति की सिद्धि की जा सकती है। उसे कहा है—

---

* तुलनीय—यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (गी० २।५८)

'[कारण में] कार्य विद्यमान है क्योंकि (१) असत् को कार्य के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता, (२) [कार्य की उत्पत्ति के लिए] उसके उपादान कारण (जैसे घट का मिट्टी, पट का सूत) का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियमपूर्वक संबद्ध रहता है। [यदि कार्य पहले से ही असत् हो तो उसका संबन्ध नहीं हो सकता], (३) सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं [किसी विशेष कारण से विशेष कार्य उत्पन्न होता है, यदि कार्य कारण से असबद्ध रहता तो ऐसा संभव नहीं था], (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है [मिट्टी में कल्पित शक्तिविशेष यदि घट से संबद्ध है तो घट को ही उत्पन्न करेगा] और (५) कार्य कारणात्मक अर्थात् उसी के स्वरूप का होता है (=कार्य और कारण अभिन्न होते हैं) ।' (सां० का० ९) ।

(८ क. विवर्तवाद का खंडन)

नापि सतो ब्रह्मतत्त्वस्य विवर्तः प्रपञ्चः। बाधानुपलम्भात्। अधिष्ठानारोप्ययोश्चिज्जडयोः कलधौतशुक्त्यादिवत्सारूप्याभावेनारोपासंभवाच्च।

आप यह भी नहीं कह सकते कि यह प्रपंच (संसार) उस सत् ब्रह्मतत्त्व का विवर्त अर्थात् कल्पित रूप है। कारण यह है कि [जैसे 'यह चाँदी नहीं, सीपी है' भ्रान्ति नष्ट होने पर ऐसे वाक्य से चाँदी का विरोध या बाध किया जाता है उस प्रकार 'यह संसार नहीं है' ऐसा] विरोध व्यवहार में नहीं मिलता। चेतन और जड जो क्रमशः आधार (अधिष्ठान, ब्रह्म) तथा आधेय (प्रपंच) हैं, उनमें चाँदी और सीपी की तरह की समानता न होने से परस्पर आरोप नहीं हो सकता। [सीपी और चाँदी में तो एकरूपता है कि दोनों ही उजले हैं, परन्तु भला ब्रह्म (चेतन) और संसार (जड) में किस पदार्थ को लेकर एकरूपता हो सकती है। आरोप का हेतु कोई सारूप्य न होने से ब्रह्म पर प्रपंच का आरोप संभव नहीं है। 'कलधौतशुक्त्यादि के समान' यह वैधर्म्य का दृष्टान्त है क्योंकि ब्रह्मप्रपंच के परस्पर सम्बन्ध के विरुद्ध है—जैसे कलधौत (चाँदी) और शुक्ति (सीपी) में समता है वैसे ब्रह्म और प्रपंच में नहीं। यदि कलधौत का अर्थ स्वर्ण लिया जाय तो साधर्म्य का ही दृष्टान्त हो जायगा—जैसे स्वर्ण (पीला) और सीपी (उजली) में समरूपता न होने से परस्परारोप नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और प्रपंच में भी समरूपता न होने से आरोप नहीं होगा।]

(९. प्रधान या प्रकृति की सिद्धि)

ततश्च सुखदुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारणमवधारणीयम्। तथा च प्रयोगः—विमतं भावजातं सुखदुःखमोहात्मककारणकं तदन्वितत्वात्। यद्येनान्वीयते तत्तत्कारणकं यथा रुचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकम्। तथा चेदं, तस्मात्तथेति।

इसके बाद सुख, दुःख और मोह से बने हुए इस संसार का वैसा ही कारण विचारना चाहिए। इसके लिए [परार्थानुमान का] यह प्रयोग होगा—

(१) **प्रतिज्ञा**—ये सभी प्रस्तुत* पदार्थ सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न हुए हैं।

(२) **हेतु**—क्योंकि ये उनसे (सुख-दुःख-मोह से) संयुक्त हैं।

(३) **उदाहरण** और **व्याप्ति**—जो जिससे संयुक्त रहता है वह उसी कारण से निकलता है। जैसे स्वर्णपात्र स्वर्णसंयुक्त है और स्वर्ण उसका कारण है।

(४) **उपनय**—यह (प्रस्तुत पदार्थ) भी वैसा (सुख दुःख मोह से संयुक्त) है।

(५) **निगमन**—इसलिए यह (संसार) भी वैसा (सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न) है।

[संसार का सुख दुःख मोह से बना कारण ही प्रकृति या प्रधान है। इसी अनुमान से उसका पता लगता है।]

तत्र जगत्कारणे येयं सुखात्मकता तत्सत्त्वं, या दुःखात्मकता तद्रजः, या च मोहात्मकता तत्तम इति त्रिगुणात्मककारणसिद्धिः। तथा हि—प्रत्येकं भावास्त्रैगुण्यवन्तोऽनुभूयन्ते। यथा

---

* विमत, विवादाध्यासित आदि शब्दों का प्रयोग पक्ष (Minor Term) के विशेषण के रूप में किया है। इसका अर्थ है—सन्दिग्ध या जिस पर वाद-विवाद चल रहा है वह विषय। अंगरेजी में इसे in question कहेंगे जैसे—विमतं वस्तु = Thing in question. मैंने 'प्रस्तुत' शब्द रखा है जो उपयुक्त है।

मैत्रदारेषु सत्यवत्यां मैत्रस्य सुखमाविरस्ति। तं प्रति सत्त्वगुणप्रादुर्भावात्। तत्सपत्नीनां दुःखम्। ताः प्रति रजोगुणप्रादुर्भावात्। तामलभमानस्य चैत्रस्य मोहो भवति। तं प्रति तमोगुणसमुद्भवात्।

यहाँ पर संसार के कारण (प्रकृति) में जो सुख का तत्त्व है वह सत्त्वगुण है, दुःख का तत्त्व रजोगुण और मोह का तत्त्व तमोगुण। इस प्रकार त्रिगुणात्मक कारण (= जगत्कारण) की सिद्धि होती है। वह इस रूप में होती है -संसार के सभी भावों (पदार्थों) में तीनों गुणों की सत्ता का अनुभव होता है। जैसे मैत्र की अनेक पत्नियों में सत्यवती नामक पत्नी से मैत्र को सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि मैत्र के प्रति सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव होता है। [उसी सत्यवती से] उसकी सपत्नियों (Fel.ow-wives) को दुःख है क्योंकि उनके प्रति रजोगुण का प्रादुर्भाव होता है। उसे न प्राप्त करने वाले (प्राप्ति की इच्छा न रखनेवाले) चैत्र को उससे मोह (उदासीनता का भाव) है क्योंकि उस चैत्र के प्रति तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है। [एक ही पदार्थ—सत्यवती में तीनों गुणों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार सभी पदार्थों से सुख, दुःख और मोह की प्राप्ति होती है।]

एवमन्यदपि घटादिकं लभ्यमानं सुखं करोति। परैरपह्रियमाणं दुःखाकरोति। उदासीनस्योपेक्षाविषयत्वेनोपतिष्ठते। उपेक्षाविषयत्वं नाम मोहः। मुह वैचित्ये इत्यस्माद्धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेः। उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात्। तस्मात्सर्वं भावजातं सुखदुःखमोहात्मकं त्रिगुणप्रधानकारणकमवगम्यते।

इसी तरह घट आदि दूसरे पदार्थ भी मिल जाने पर सुख देते हैं, दूसरों के द्वारा चुरा लिये जाने पर दुःख देते हैं किन्तु तटस्थ व्यक्ति के लिए उपेक्षा का विषय बन जाते हैं। उपेक्षा का विषय बन जाना ही मोह है। मुह-धातु का अर्थ होता है चित्त से रहित होना (= चित्त की वृत्तियों का शून्यवत् हो जाना)। इस धातु से ही 'मोह' शब्द बनता है। उपेक्षणीय वस्तुओं के प्रति चित्त की वृत्ति उगती ही नहीं। इसलिए सभी पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह के बने हुए हैं। वे तीन गुणों से बने हुए प्रधान (प्रकृति) रूपी कारण से उत्पन्न हैं—यह मालूम होता है।

तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—

९. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
(श्वे० ४।५) इति।

अत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दाः रञ्जकत्वप्रकाशकत्वावरकत्वसाधर्म्यात् रजःसत्त्वतमोगुणत्रयप्रतिपादनपराः।

श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति भी यही कहती है—'(सरूपाः) समान रूप वाली (बह्वीः) बहुत सी (प्रजाः) संतानों को (सृजमानाम्) उत्पन्न करने वाली (एकाम्) एक (लोहितशुक्लकृष्णाम्) लाल, उजली और काली (अजां) मूलप्रकृति की (जुषमाणः) सेवा करते हुए (एकः) एक दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (अनुशेते) पीछे-पीछे चलता है। (अन्यः) वह दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (एनाम्) इसका (भुक्तभोगां) भोग कर लेने पर (जहाति) छोड़ देता है।' (श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५)।

यहाँ लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण शब्द क्रमशः रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण—इन तीन गुणों का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि इन शब्दों से क्रमशः रँगने वाले, प्रकाशित करने वाले तथा ढँक देने वाले धर्मों की समानता है।

विशेष—श्वेताश्वतर उपनिषद् की उक्त श्रुति को सांख्य में बड़ा महत्त्व देते हैं क्योंकि यहीं सांख्य-दर्शन के बीज प्राप्त होते हैं। बकरा-बकरी का रूपक देकर अध्यात्म-विद्या का उपदेश देने वाले श्लोक में सांख्य-दर्शन अपने तत्त्वों से विद्यमान है। मूल प्रकृति और पुरुष क्रमशः अजा और अज हैं क्योंकि दोनों अजन्मा हैं। तीन गुणों को ही प्रकृति कहते हैं। इन गुणों को आलंकारिक भाषा में लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा है। लाल रंग साड़ी आदि को रँग देता है, पदार्थों में रहनेवाला रजोगुण भी प्रेक्षकों को रँग देता है। इस प्रकार लाल रंग और रजोगुण में रञ्जकत्व धर्म साधारण (Common) है इसलिए लोहित से रजोगुण का बोध होता है। उजले पदार्थ जैसे सूर्य आदि प्रकाशक होते हैं, उधर सत्त्वगुण भी प्रकाशक है। बस, प्रकाशकत्व का धर्म समान होने से शुक्ल शब्द सत्त्वगुण का बोधक हुआ। काले पदार्थ जैसे मेघ आदि सूर्यादि के आवरक (ढँकने वाले) हैं। तमोगुण भी आवरक ही है, अतः कृष्ण शब्द का अर्थ

तमोगुण ही है। प्रकृति को जहाँ 'लोहितशुक्लकृष्णा' कहा है, वहाँ उसका अर्थ 'त्रिगुणात्मिका' है।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने ही अनुरूप (=त्रिगुणात्मक) बहुत से पदार्थों की सृष्टि करती है। पदार्थों को प्रजा कहा गया है। बद्ध पुरुष इसी प्रकृति की सेवा में लगा रहता है। प्रकृति के कार्यों को (बुद्धि, मन आदि को) अपना ही समझ कर प्रकृति के साथ-साथ संसार में घूमता रहता है। दूसरा मुक्त पुरुष इस प्रकृति को छोड़ देता है क्योंकि वह प्रकृति का पुरुष से पार्थक्य जान लेता है। वह मुक्त पुरुष एक बार प्रकृति का भोग कर चुका है इसलिए प्रकृति उसके लिए 'भुक्तभोगा' है।

इस मंत्र में पूर्वार्ध प्रकृति के लिए है, उत्तरार्ध में पुरुष का वर्णन है जिसमें बद्ध और मुक्त दोनों तरह के पुरुषों का वर्णन हुआ है। दो प्रकार के पुरुष भी मानना सांख्यों के बहुपुरुषवाद का परिचायक है। वाचस्पति ने अपनी तत्त्व-कौमुदी का आरंभ इसी मंत्र की संगति बैठाकर किया है।*

(१०. प्रधान की निरपेक्षता)

नन्वचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं महदादिकार्ये न व्याप्रियते। अतः केनचिच्चेतनेनाधिष्ठात्रा भवितव्यम्। तथा च सर्वार्थदर्शी परमेश्वरः स्वीकर्तव्यः स्यादिति चेत्—तदसंगतम्। अचेतनस्यापि प्रधानस्य प्रयोजनवशेन प्रवृत्त्युपपत्तेः।

यह शंका होती है कि अचेतन प्रधान (प्रकृति) किसी चेतन की सहायता लिए बिना महत् आदि कार्यों को उत्पन्न करने का काम नहीं कर सकती। [बिना चालक के मोटर गाड़ी नहीं दौड़ जाती। दृष्ट आधार पर ही तो अदृष्ट की सिद्धि होती है। बिना चेतन कर्त्ता की सहायता लिए अचेतन वस्तु कुछ भी काम नहीं करेगी।] इसलिए [प्रकृति के इस व्यापार के पीछे] किसी चेतन अधिष्ठाता (कर्ता) का रहना जरूरी है। ऐसी दशा में सभी पदार्थों को देखने वाले परमेश्वर को मानना पड़ेगा।

यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि प्रधान अचेतन है फिर भी किसी विशेष प्रयोजन से वह प्रवृत्त होता है [और अपने व्यापार में लगता है]।

---

* अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥
(त० कौ० मंगल, १)

दृष्टं चाचेतनं चेतनानधिष्ठितं पुरुषार्थाय प्रवर्तमानं यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनं क्षीरं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षाय प्रवर्त्स्यति। तदुक्तम्—

१०. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥
(सां० का० ५७) इति।

यही देखते भी हैं कि अचेतन पदार्थ चेतन की सहायता लिये ही बिना मनुष्यों की अर्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है। जैसे बच्चे के पालन-पोषण के लिए अचेतन दूध प्रवृत्त है (माँ के स्तन में चला आता है) और जैसे अचेतन जल संसार के उपकार के लिए प्रवृत्त होता है उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होने पर भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होगी, [इसमें आश्चर्य क्यों करते हैं ?] यह कहा भी है—'जैसे बच्चे के पालन-पोषण के लिए (के प्रयोजन से) अज्ञ अर्थात् अचेतन दूध की भी प्रवृत्ति (क्रिया) देखी जाती है उसी प्रकार पुरुष की मुक्ति के लिए प्रधान या प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।' (सां० का० ५७)।

विशेष—यहाँ लोग पूछ सकते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष कैसे होता है ? मोक्ष का अर्थ है दुःख की निवृत्ति। दुःख की निवृत्ति तभी हो सकती है जब पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान हो जाय। प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दुर्गम है, इसलिए पुरुष को उससे अपने भेद का ज्ञान प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। जब प्रकृति कार्योत्पादन में लगती है तब उसके बड़े-बड़े भौतिक कार्य स्थूल रूप से दिखलाई पड़ते हैं। पुरुष आसानी से उन पदार्थों से अपना भेद कर लेता है। फिर वह उन स्थूल कार्यों के कारण सूक्ष्म तत्त्वों से भी भेद कर लेता है। अन्त में सूक्ष्मतम प्रकृति से भी पार्थक्य का ज्ञान उसे हो जाता है। जैसे अरुन्धती नामक सूक्ष्म तारे को दिखलाने के लिए स्थूल तारों को दिखलाते-दिखलाते ध्यान केन्द्रित हो जाने पर अरुन्धती को दिखला देते हैं वैसे ही पुरुष को भी प्रकृति का ज्ञान होता है।

(१० क. परमेश्वर प्रवर्तक नहीं है)

यस्तु 'परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः' इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स गर्भस्रावेण गतः। विकल्पानुपपत्तेः। स किं

सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा ? आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुत्पत्तौ जीवानां दुःखप्रहाणेच्छानुपपत्तिः । द्वितीये परस्पराश्रयप्रसङ्गः । करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति ।

परमेश्वर की सत्ता माननेवाले लोग (नैयायिक आदि) जो यह ढिंढोरा पीटते हैं कि परमेश्वर दया के कारण संसार को [रचना करने में] प्रवृत्त होता है, वह तो गर्भपात के समान नष्ट हो गया। कारण यह है कि इस दशा में इस पर उठाये गये विकल्पों का खंडन हो जाता है। क्या वह सृष्टि के पहले प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद ? पहला विकल्प इसलिए ठीक नहीं कि शरीर आदि के अभाव में दुःख की उत्पत्ति नहीं होगी, [दुःख शरीर में ही होता है, जीवों का उस समय शरीर ही नहीं है] अतः जीवों में दुःख को हटाने की इच्छा (करुणा) नहीं मानी जा सकती [और कैवल्य या मोक्ष नहीं होगा।] यदि दूसरा विकल्प मानते हैं कि सृष्टि के बाद करुणा से ईश्वर प्रवृत्त होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष ही हो जायगा। करुणा से सृष्टि होती है (आपका अपना सिद्धान्त) और सृष्टि होने पर करुणा होती है (प्रसंग का आ जाना)।

(११. प्रकृति-पुरुष का संबन्ध)

तस्मादचेतनास्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामः पुरुषार्थप्रयुक्तः प्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तः । यथा निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तस्य संनिधानेन व्यापारस्तथा निर्व्यापारस्य पुरुषस्य संनिधानेन प्रधानव्यापारो युज्यते । प्रकृतिपुरुषसंबन्धश्च पङ्ग्वन्धवत् परस्परापेक्षानिबन्धनः । प्रकृतिर्हि भोग्यतया भोक्तारं पुरुषमपेक्षते । पुरुषोऽपि भेदाग्रहाद् बुद्धिच्छायापत्त्या तद्गतं दुःखत्रयं वारयमाणः कैवल्यमपेक्षते । तत्प्रकृतिपुरुषनिबन्धनं न च तदन्तरेण युक्तमिति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते ।

इसलिए अचेतन होने पर भी तथा किसी चेतन सत्ता का आश्रय न लेने पर भी प्रधान का परिणाम (विकार) महत् आदि कार्यों के रूप में होता है जो पुरुष के लाभ के लिए उपयोगी एवं प्रधान और पुरुष के संयोग के लिए ही होता है। जैसे निष्क्रिय चुम्बक के भी संपर्क में आने से लोहे में क्रिया

उत्पन्न होती है उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष के संपर्क से प्रधान में क्रिया उत्पन्न होना युक्तियुक्त है।

प्रकृति-पुरुष का संबन्ध अंधे और लँगड़े की तरह परस्पर अपेक्षा पर निर्भर करता है। चूँकि प्रकृति स्वयं भोग्य है इसलिए भोक्ता पुरुष की अपेक्षा रखती है। पुरुष भी, भेद का ज्ञान नहीं रहने से तथा [अपने ऊपर] बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ जाने से, बुद्धिगत तीनों दुःखों को हटाते हुए मोक्ष चाहता है। [बुद्धि प्रकृति का एक परिणाम है किन्तु जब इसकी छाया पुरुष पर पड़ जाती है तब उससे अपना अंतर न जान कर वह पुरुष बुद्धि में उत्पन्न सुख, दुःख आदि को अपना सुख, दुःख ही समझने लगता है। अतः उनके निवारण के लिए उसे मोक्ष की अपेक्षा रहती है।] यह मोक्ष (कैवल्य) प्रकृति और पुरुष [के भेद-ज्ञान] पर निर्भर करता है, उसके बिना यह नहीं हो सकता इसलिए कैवल्य की प्राप्ति के लिए पुरुष [भेदज्ञान के लिए भेद के प्रतियोगी] प्रधान की अपेक्षा रखता है।

यथा खलु कौचित्पङ्ग्वन्धौ पथि सार्थेन गच्छन्तौ दैवकृतादुपप्लवात्परित्यक्तसार्थौ मन्दमन्दमितस्ततः परिभ्रमन्तौ भयाकुलौ दैववशात्संयोगमुपगच्छेताम्। तत्र चान्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः। ततः पङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धः समीहितं स्थानं प्राप्नोति, पङ्गुरपि स्कन्धाधिरूढः। तथा परस्परापेक्षप्रधानपुरुषनिबन्धनः सर्गः। यथोक्तम्—

११. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संबन्धस्तत्कृतः सर्गः॥

(सां० का० २१) इति।

जैसे कोई अंधा और लँगड़ा राह में किसी दल के साथ जा रहे थे। किसी दैवी उपद्रव से दल से उनका साथ छूट गया। वे बेचारे डर के मारे इधर-उधर घूम रहे थे कि दैवयोग से उनका मिलन आपस में ही हो गया। अब अन्धे ने लँगड़े को अपने कन्धे पर चढ़ा लिया। तब लँगड़े के दिखलाये रास्ते पर चलते-चलते अन्धा अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया। लँगड़ा भी कन्धे पर चढ़े-ही-चढ़े [आसानी से वहाँ पहुँच गया]।

उसी प्रकार परस्पर अपेक्षा रखने वाले प्रधान और पुरुष के कारण सृष्टि (सर्ग) चलती है। जैसा कि कहा है—'[प्रधान अपने कर्मों को] दिखलाने के

लिए पुरुष की अपेक्षा रखता है और उसी तरह [पुरुष अपने] कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान की अपेक्षा करता है—इस तरह दोनों का संबन्ध पंगु और अंध के समान है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।' [पंगु को गतिशक्ति नहीं है वह अपने स्थान पर जाने के लिए गतिमान् व्यक्ति की अपेक्षा रखता है तो अंधा मिलता है। उधर अंधा दृष्टिशक्ति से रहित है तो उसे दृष्टिमान् लँगड़े की सहायता मिलती है। दोनों का परस्पर संयोग हो जाता है। यहाँ पुरुष निष्क्रिय होने के कारण पंगु के समान है, प्रधान अचेतन होने के कारण अंधे की तरह है। लँगड़े के संवन्ध से अंधा मार्ग में चल पड़ता है, वैसे ही पुरुष के संवन्ध से प्रधान प्रवृत्त होता है। अंधे के संबन्ध से पंगु अभीष्ट स्थान पर पहुँचता है वैसे ही प्रधान के संबन्ध से पुरुष विवेकज्ञान के द्वारा मोक्ष पाता है।] (सां० का० २१)।

विशेष—सांख्य के प्रकृति-पुरुष-संबन्ध में जो अंधा-लँगड़ा की उपमा दी गई है उसकी घोर आलोचना हुई है। प्रायः लोगों ने संकेत किया है कि अंधा और लँगड़ा दोनों ही चेतन हैं आपस में साथ चलने के लिए समझौता कर सकते हैं। यह दूसरी बात है कि वे एक-एक इन्द्रिय से रहित हैं। प्रकृति और पुरुष में कोई धर्म समान नहीं, एक जड़ है, दूसरा चेतन। दोनों में समझौता कैसे हो सकता है ?

(१२. प्रकृति की निवृत्ति—प्रलय)

ननु पुरुषार्थनिबन्धना भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिः। निवृत्तिस्तु कथमुपपद्यत इति चेत्—उच्यते। यथा भर्त्रा दृष्टदोषा स्वैरिणी पुनर्भर्तारं नोपैति, यथा वा कृतप्रयोजना नर्तकी निवर्तते तथा प्रकृतिरपि। यथोक्तम्—

१२. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
(सां० का० ५९) इति।

एतच्च निरीश्वरसांख्यशास्त्रप्रवर्तककपिलादिमतानुसारिणां मतमुपन्यस्तम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम्॥

अब शंका होती है कि प्रधान की प्रवृत्ति भले ही पुरुष के काम के लिए हो, पर उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर है कि जैसे पति के द्वारा दोष देख लिये जाने पर स्वेच्छाचारिणी स्त्री फिर अपने पति के पास लौट कर नहीं आती अथवा जैसे अपना काम समाप्त कर लेने पर नर्तकी चली जाती है वैसे ही प्रकृति भी [पुरुष को अपना कार्यसमूह या परिणाम दिखाकर निवृत्त हो जाती है।] जैसा कहा गया है—'दर्शक-मंडली को [नृत्य] दिखाकर जैसे कोई नर्तकी अपने नृत्य से अलग हो जाती है वैसे ही पुरुष को अपना स्वरूप (स्थूल परिणाम) दिखला कर प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है।' (सां० का० ५९)।

निरीश्वर सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल आदि आचार्यों का मत माननेवाले लोगों का यह सिद्धान्त यहाँ उपस्थित किया गया है।

इस प्रकार श्रीसायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में सांख्यदर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां सांख्यदर्शनमवसितम् ॥